जैनधर्म की कहानियाँ

भाग-१६

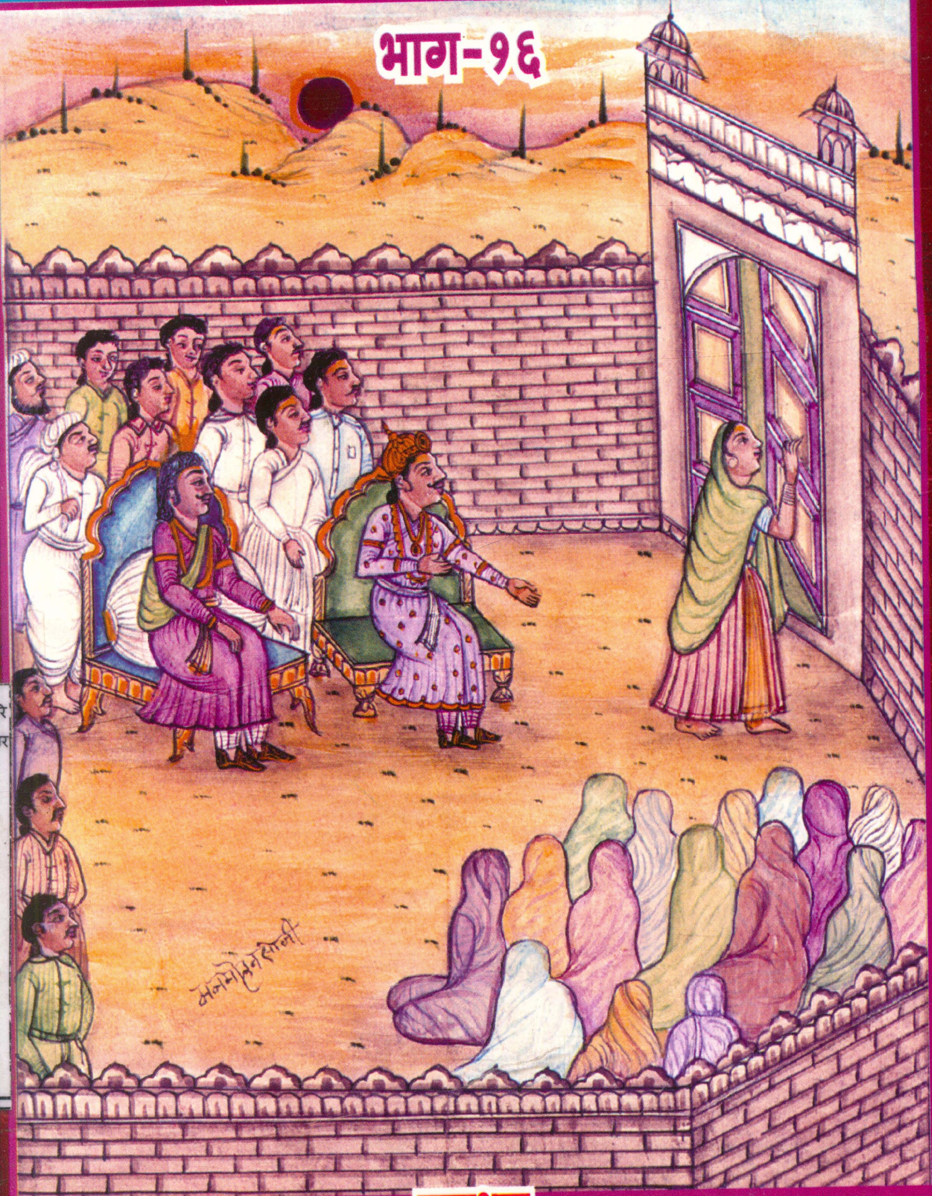

प्रकाशक

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़

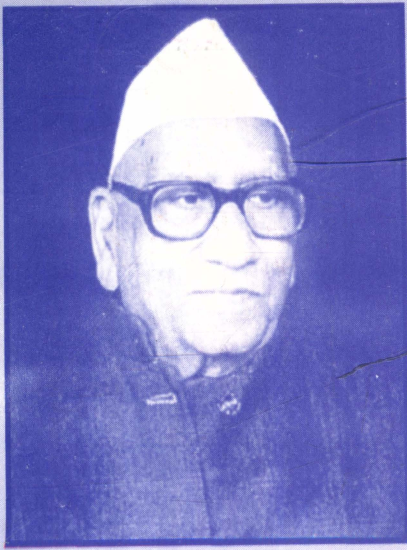

श्री खेमराज गिड़िया
जन्म : 27 दिसम्बर, 1918
देहविलय : 4 अप्रेल, 2003

श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया
जन्म : 1922
देहविलय : 24 नवम्बर, 2012

आप दोनों के विशेष सहयोग से सन् १९८८ में **श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया** ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य एवं पौराणिक कथाएँ प्रकाशित करने की योजना का शुभारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

जन्म : सन् १९१८ चांदरख (जोधपुर)
पिता : श्री हंसराज, **माता :** श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा/व्यवसाय : प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही व्यवसाय में लग गए।
सत्-समागम : सन् १९५० मेंपूज्य श्रीकानजीस्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : सन् १९५३ में मात्र ३४ वर्ष की आयु में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में अल्पकालीन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर धर्मसाधन में लग गये।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने।

सन् १९५९ में खैरागढ़ में दिग. जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभहस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया।

सन् १९८८ में ७० यात्रियों सहित २५ दिवसीय दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना करते थे।

हम हैं आपके बताए मार्ग पर चलनेवाले

पुत्र : दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल, प्रेमचंद एवं समस्त गिड़िया कुटुम्ब।

पुत्रियाँ : ब्र. ताराबेन एवं ब्र. मैनाबेन।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का 24 वाँ पुष्प

ॐ

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग-16)

(नाटक संग्रह)

:: लेखिका ::

रूपवती जैन 'किरण'

:: सम्पादक ::

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

:: प्रकाशक ::

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – 491 881 (छत्तीसगढ़)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – 364 250 (सौराष्ट्र)

अबतक प्रकाशित -५२००प्रतियाँ
प्रस्तुत आवृत्ति -२,२०० प्रतियाँ
(१ जनवरी, २०१४)

卐 अनुक्रमणिका 卐

झूंठा कलंक	१
समय की नियति	४३
समदर्शी पण्डित टोडरमल	६५

न्यौछावर : दस रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

- **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा – खैरागढ़**
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन,
  'कहान-निकेतन' खैरागढ़
  पिन - ४९१८८१
  जि. राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़)
- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
  ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५
- **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
  'कहान रश्मि', सोनगढ़ - ३६४२५०
  जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था –

जैन कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302 015
मोबाइल : 9414717816
e-mail :
jaincomputers74@yahoo.com

साहित्य प्रकाशन फण्ड

ज्योत्सना बेन, अमेरिका	६०१/-
श्री मुमुक्ष मण्डल, खैरागढ़	५०१/-
सुशीला बेन जयन्ति लाल शाह, नायरोबी	४२५/-
श्री खेमराज प्रेमचंद जैन ह. श्री अभयकुमार शास्त्री, खैरागढ़	३५१/-
कांता बेन हीराचंद मास्टर, सोनगढ़	३०१/-
श्री झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़	२५१/-
ब्र. ताराबेन-मैनाबेन, सोनगढ़	२५१/-
श्रीमती मनोरमा विनोद कुमार जैन, जयपुर	२५१/-
श्री दुलीचंद कमलेशकुमार जैन ह.श्री जिनेश जैन, खैरागढ़	२०१/-
स्व. ढेलाबाई ह.शोभादेवी मोतीलालजी जैन, खैरागढ़	२०१/-
रीता बेन भूरा भाई, भिलाई	२०१/-
कुमुद बेन महेश भाई, सूरत	२०१/-
श्रीमती ममता रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ह. साकेत जैन	२०१/-
सौ. कंचनदेवी पन्नालाल ह. श्री मनोज जैन, खैरागढ़	१०१/-
श्री पन्नालाल उमेशकुमार जैन, ह. महेशजी छाजेड़, खैरागढ़	१०१/-

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन 26 दिसम्बर, 1980 को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् 1988 में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य 21001/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य 11001/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य 5001/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. 2506 में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से २० तक एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स), भक्तामर प्रवचन (गुजराती) – इसप्रकार २८ पुष्पों में लगभग ७ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर पूरे विश्व में धार्मिक संस्कार सिंचन का कार्य कर रही हैं।

जैनधर्म की कहानियाँ भाग १६ के प्रस्तुत संस्करण में अपने समय की सुप्रसिद्ध लेखिका श्रीमती रूपंवती जैन 'किरण' जबलपुर द्वारा लिखित ३ नाटकों को प्रकाशित किया जा रहा है। इन नाटकों को पढ़कर पाठकों को एक अपूर्व आनंद का वेदन तो होगा ही, साथ ही कलाकार हृदय को इन्हें मंचित करने का भाव भी आये बिना नहीं रहेगा। इसका सम्पादन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम इन सभी के आभारी हैं।

आशा है इसका स्वाध्याय कर पाठक गण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन	प्रेमचन्द जैन
अध्यक्ष	**साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़**" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

विनम्र आदराञ्जली

स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

जन्म	स्वर्गवास
१/१२/१९७८	२/२/१९९३
(खैरागढ़, म.प्र.)	(दुर्ग पंचकल्याणक)

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे - ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे --ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा	श्री कंवरलाल जैन	**दादी**	स्व. मथुराबाई जैन
पिता	श्री मोतीलाल जैन	**माता**	श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ	श्रीमती ढेलाबाई	**बहन**	सुश्री क्षमा जैन
जीजा-	श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन	**जीजी**	सौ. श्रद्धा जैन

श्री दुलीचंद बरडिया राजनाँदगाँव

पिता- स्व. फतेलालजी बरडिया

श्रीमती सन्तोषबाई बरडिया

पिता-स्व. सिरेमलजी सिरोहिया

सरल स्वभावी बरडिया दंपत्ति अपने जीवन में वर्षों से सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों से जुड़े हैं। सन् १९९३ में आप लोगों ने ८० साधर्मियों को तीर्थयात्रा कराने का पुण्य अर्जित किया है। इस अवसर पर स्वामी वात्सल्य कराकर और जीवराज खमाकर शेष जीवन धर्मसाधना में बिताने का मन बनाया है।

विशेष - पूज्य श्री कानजीस्वामी के दर्शन और सत्संग का लाभ लिया है।

परिवार:

पुत्र

ललित, निर्मल, अनिल एवं सुनील

पुत्रियाँ

चन्दकला बोथरा, भिलाई एवं शशिकला पालावत, जयपुर

ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसी कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो व्स्की ह. शीतल विजेन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जयपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह. सुशीलाबेन अमेरिका
श्रीमती सोनिया समीत भायाणी प्रशांत भायाणी, अमेरिका
श्रीमती ऊषाबेन प्रमोद सी. शाह, शिकागो
श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
श्रीमती कुसुमबेन चन्द्रकान्तभाई शाह, मुलुण्ड

शिरोमणि संरक्षक सदस्य

झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
स्व. धापू देवी ताराचन्द गंगवाल, जयपुर
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली
श्रीमती पुष्पलता अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा
सौ. सुमन जैन जयकुमारजी जैन डोगरगढ़
श्री दुलीचंदजी अनिल-सुनील बरड़िया, नांदगांव
स्व. मनहरभाई ह. अभयभाई इन्द्रजीतभाई, मुम्बई

परमसंरक्षक सदस्य

श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई प्रकाशभाई मेहता, राजकोट
श्री रमेशभाई, नेपाल एवं श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
सरिता बेन ह. पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, तेजपुर
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
श्रीमती रूपाबेन जयन्तीभाई ब्रोकर, मुम्बई
श्री जम्बूकुमार सोनी, इन्दौर

संरक्षक सदस्य

श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
स्व. अमराबाई नांदगांव, ह. श्री घेवरचंद डाकलिया
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्री प्रेमचन्द रमेशचन्द जैन शास्त्री, जंयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
स्व. श्री जेठाभाई हंसराज, सिकंदराबाद
श्री शांतिनाथ सोनाज, अकलूज
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता
श्री लवजी बीजपाल गाला, बम्बई
स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई
एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली
श्रीमती शांताबेन श्री शांतिभाई झवेरी, बम्बई
स्व. मूलीबेन समरथलाल जैन, सोनगढ़
श्रीमती सुशीलाबेन उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्री बिशम्भरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, दिल्ली
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
सौ. सविताबेन रसिकभाई शाह, सोनगढ़
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी उज्जैन,
श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी

श्री चिमनलाल ताराचंद कामदार, जैतपुर
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
श्रीमती तेजबाई देवीलाल मेहता, उदयपुर
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
श्री फूलचंद चौधरी, बम्बई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री लक्ष्मीचंद सुन्दरबाई पहाड़िया, कोटा
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
सौ. चिंताबाई मिट्ठूलाल मोदी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, रायपुर
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
सौ. कंचनदेवी जुगराज कासलीवाल, कलकत्ता
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, सागर
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध.प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमती भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर

स्व. सुशीलाबेन हिम्मतलाल शाह, भावनगर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री सत्संग महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व. गैंदामल - ज्ञानचन्द - सुमतप्रसाद, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. निधि-निश्चल, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्री अभयकुमार शास्त्री, ह. समता-नम्रता, खैरागढ़
स्व. वसंतबेन मनहरलाल कोठारी, बम्बई
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. गुलाबदेवी लक्ष्मीनारायण रारा, शिवसागर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
स्व. लालचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. ओमलता लालचन्द जैन, भुसावल
श्री योगेन्द्रकुमार लालचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री ज्ञानचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. साधना ज्ञानचन्द जैन लुहाड़िया, भुसावल
श्री देवेन्द्रकुमार ज्ञानचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री महेन्द्रकुमार बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. लीना महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री चिन्तनकुमार महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल जैन, खैरागढ़
अनुभूति-विभूति अतुल जैन, मलाड
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्री प्रशम जीतूभाई मोदी, सोनगढ़
श्री हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा
स्व. दुर्गा देवी स्मृति ह. दीपचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
श्री पारसमल महेन्द्रकुमार, तेजपुर
शाह श्री कैलाशचन्दजी मोतीलालजी, भिलाई
श्रीमती प्रेक्षादेवी प्रवीणकुमारजी शास्त्री, रायपुर

झूंठा कलंक

पुरुष-पात्र परिचय

महीपाल	-	वैजयन्ती नगरश्रेष्ठि
सुखानन्द	-	महीपाल के सुपुत्र
आनन्दकुमार	-	राजगृह का राजकुमार
देव	-	स्वर्ग से आया हुआ मनोरमा का रक्षक देव
धनदत्त	-	काशी के श्रेष्ठि मनोरमा के मामा
धृतिषेण	-	वैजयन्ती के नरेश
यशोधर	-	वैजयन्ती के महामात्य
मंगल-जम्बू	-	बालक धनदत्त के पौत्र (अन्य नागरिकगण)

स्त्री-पात्र

सुवृत्ता	-	महीपाल की पत्नी सुखानन्द की माँ
मनोरमा	-	महीपाल की पुत्रवधु सुखानन्द की पत्नी
सुसीमा	-	सुवृत्ता की दासी
दूती	-	वैजयन्ती के राजकुमार की दासी

(वैजयन्ती नगर के विश्रुत श्रेष्ठिपुत्र सुखानन्द का विवाह गुणवती सुशील कन्या मनोरमा से हुआ।)

नवदम्पति ने प्रणयसूत्र में बंधकर कुछ दिन व्यतीत किये। उन्हें प्रेमलीला करते हुये समय का भान ही नहीं रहा। एक दिन अचानक सुखानन्द को सुधि आई कि मैं पूर्ण तरुण होकर भी पिता के द्वारा अर्जित की हुई सम्पत्ति का उपभोग कर रहा हूँ; यह मुझे शोभा नहीं देता। अस्तु ! अब मैं अपने पुरुषार्थ से धन-संचित करूंगा।

रात्रि के समय जब स्वच्छ, नीले आकाश में चन्द्रदेव विहार कर रहे थे उस समय ये दम्पति प्रेमालाप में तन्मय हैं। इसी समय सुखानन्द उपर्युक्त निर्णय अपनी प्रेयसी मनोरमा को सुनाना चाहते हैं।

(छत पर कोच पड़े हुये हैं एक बड़े कोच पर पति-पत्नी बैठे हैं।)

पहला दृश्य

मनोरमा – प्रियतम ! गगन का पुष्प चतुर्दिक अपनी कैसी अनुपम आभा विखेर रहा है। धरती जैसे चाँदनी से नहा उठी है। बड़ा ही रमणीय दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा है।

सुखानन्द – हाँ प्रिये ! ऐसा सुखद सुहावना दृश्य भला क्यों न अच्छा लगेगा और तुम्हारे मुखचंद्र के सम्मुख तो आकाश का कलंकी चंद्र भी मुझे फीका फीकासा लग रहा है।

मनोरमा – बनाओ मत (मुस्कुराते हुये) भला गगनविहारी पूर्णिमा के चंद्र की सुन्दरता से हम भू निवासिनियों की कैसी तुलना ?

सुखानन्द – क्यों असम्भव है ? तनिक मेरी आँखों में आँखें डालो रानी। मेरे ह्रदय-सिंहासन पर तुम्हारा ही एक छत्र राज्य स्थापित है.... हठीली ऐसी हो कि क्षणभर भी आँखों से ओझल नहीं होती। (हाथ पकड़कर) सच है न ?

(मनोरमा लज्जा से माथा झुका लेती है)

सुखानन्द – ओहो ! शर्मा गई। मुख लज्जा से लाल हो गया। आखिर इस लाज का अवगुंठन इस तरह कब तक अपने मुख पर डाले रहोगी मनोरमे? क्या अभी तक तुम मुझे पराया समझ रही हो ?

मनोरमा – पराया क्यों समझूँ (प्रेमभरे स्वर में) हटोजी, आप तो विचित्र सी बातें किया करते हैं। (मुस्कुराती है) ओहो ! बातों ही बातों में अर्धरात्रि बीत चुकी। देखो न, चन्द्र अटारी के ऊपर आकर ठहर गया है।

सुखानन्द – (बीच में बात काटकर) और बड़े प्रेम से हमारा और तुम्हारा वार्तालाप सुन रहा है।

मनोरमा – नहीं ऐसी बात नहीं। वह हम दोनों प्रेमियों पर अमृत की वर्षा कर रहा है। प्रतीत होता है कि आज आपने रात्रि जागरण कर कलधौत चाँदनी में स्नान करने का निश्चय किया है।

सुखानन्द – कौनसी बड़ी बात है। हमने परस्पर एक दूसरे की रूपसुधा का पान कर ऐसी कई रात्रियाँ नहीं बिता दी हैं ? (गहरी सांस लेते हुये) चलो शयन करें।

मनोरमा – नाथ ! आपने गहरी सांस क्यों ली ? क्या हो गया। ऐसी कौनसी अमाप आशांका से आपका जी सिहर उठा ?

सुखानन्द – कुछ नहीं। तुम्हें नींद आ रही है न, चलो सो जायें। (उदासी को छिपाने का विफल प्रयत्न करते हैं)

मनोरमा – प्रियतम ! बात को उड़ाने का असफल यत्न न कीजिये। मैं तब तक न सो सकूँगी जब तक आप अपनी बात न बतायेंगे। छुपाने से काम न चलेगा। कुछ दिनों से देख रही हूँ। आप चाहे जब उदास हो जाया करते हैं। पर कुछ बतलाते नहीं। आज तो मैं सुनकर ही रहूँगी।

सुखानन्द – ऐसी कोई बात नहीं प्रिये ! तुम अधीर क्यों हो गई ?

मनोरमा – पहेलियाँ मत बुझाईये देव ! मेरे सिर की सौगंध है आपको। अवश्य आपके मन में कोई दुश्चिंता है, जिसे आप बारबार छुपाने का निरर्थक प्रयास कर रहे हैं। निकाल दीजिये नाथ, मन की व्यथा अन्तर में रख हृदय को दग्ध न करें। दासी का अनुरोध स्वीकृत हो।

सुखानन्द – मनोरमे ! तुम दासी नहीं, मेरे हृदय सिंहासन की आराध्य देवी हो....(कुछ विचार कर) बता ही दूँ। जानता हूं तुम बिना सुने न मानोगी तो सुनो, मनो ! पिता की अर्जित सम्पत्ति का मैं युवावस्था में सुखप्रवर्तक उपयोग करता रहूं यह अब अच्छा नहीं लगता। मुझे अत्यन्त आत्मग्लानि हो रही है। मेरा पुरुषार्थ रो रहा है। भावनायें मचल उठी हैं विदेश जाने के लिए। कुछ उद्योग कर जीवन सफल करने की चिरसंचित साधना पूर्ण करना चाहता हूँ।....... इस विषय में सत्परामर्श प्राप्त करने का अभिलाषी हूँ कहो, क्या कहती हो ?

मनोरमा – आर्यपुत्र, आपका विचार सर्वोत्तम है, श्रेष्ठ कुल सपूतों के

योग्य ही आपने वचन कहे हैं। मैं आपका सहर्ष शतशः अभिनन्दन करती हूँ। किन्तु एक बात है, उद्योग आप घर में रहकर भी कर सकते हैं। विदेश जाना ही अभीष्ट नहीं, प्रयोजन तो केवल उद्योग से है।

सुखानन्द – नहीं ऐसी बात नहीं। यहाँ उद्योग करने से मेरा गौरव क्या बढ़ेगा ? क्या पिता के नाम पर यश उपार्जित करूँ ?..... क्यों न अपने बाहुबल से धन अर्जित कर पिता की कीर्ति में चार चाँद लगा दूँ ?

मनोरमा – आर्यपुत्र ! सच कहते हैं। आपका मनोरथ सिद्ध हो, क्या आपने पूज्यनीय माताजी व पिताजी से अनुमति ले ली ?

सुखानन्द – उनसे अनुमति लेने के प्रथम मुझे तुम्हारी स्वीकारता की आवश्यकता थी। तुम्हारी ओर से भली-भांति आश्वस्त हो उनका भी आशीर्वाद प्राप्त कर मैं शीघ्र ही विदेश प्रस्थान कर दूँगा।

मनोरमा – और मैं ? मैं भी चलूँगी।

सुखानन्द – प्रिये, तुम यहीं सुख से रहो। परदेश में मेरे साथ कहाँ भटकती फिरोगी। तुम जैसी कोमलांगी, कहाँ वे कठिन बाधायें सह सकती हो ?

मनोरमा – नाथ आर्य संस्कृति तो यही है कि जहाँ पति, वहाँ पत्नी। नारी तो पुरुष की छाया है। कहीं छाया भी व्यक्ति से दूर होकर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकती है ?

सुखानन्द – मनोरमा ! तुम ठीक कहती हो, पर मैं वहाँ स्वतन्त्र होकर उद्योग में तन्मय न रह सकूँगा। परदेश में तुम्हारी सुविधाओं का ध्यान भी मुझे ही रखना होगा।

मनोरमा – मैं कब सुविधाओं की आकांक्षिणी हूँ। आप कष्ट सहें और मैं सुख वैभव से परिपूर्ण हो नित्य वैभव का गरल पान करूँ। नहीं असंभव है नाथ ! कुलवंती नारी पति सेवा में ही अपने को धन्य मानती हैं। अपने चरणारविंदों पर मुग्ध भ्रमरी को दूर न करें देव !

सुखानन्द – ओह प्रिये ! (विवश से होकर) मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ। मैं तो स्वयं चाहता हूँ कि परम प्यारी अनिंद्य सुन्दरी अर्द्धांगिनी मनोरमा की अतुल रूपराशि निर्निमेष आँखों से सतत पीता रहूँ। परन्तु तुम्हें साथ ले जाने में....... असुविधा होगी; वह मुझे क्लांत कर पथ की बाधा बनकर अवरोध उत्पन्न करेगी।

मनोरमा – नाथ ! आप गलत समझ रहे हैं। मैं मार्ग में बाधक न बन साधक बनूंगी। निश्चय मानिये, यह दासी आपको कष्ट न होने देगी।

सुखानन्द – देवी ! तुम्हारी वाक्शक्ति अद्भुत है। मैंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। काश....मेरी विवशता पहिचान पातीं।

मनोरमा – (पति की विवशता का अनुभव करते हुये) अच्छा प्रियतम, आप सहर्ष निश्चिन्त होकर जाइये। मैं अपनी हठ से और अधिक परेशान नहीं करुँगी। नित्य प्रति आपकी मंगल कामना करती हुई, शीघ्रातिशीघ्र आपके शुभागमन की प्रतीक्षा करूंगी।

सुखानन्द – प्राण वल्लभे ! मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी।

मनोरमा – (आकाश की ओर निहारकर) ओह प्रियतम ! रजनी तो समाप्त भी हो चली। देखो, निशानाथ अस्ताचल की ओट में छिपने कैसी तेजी से चले जा रहे हैं। तारिकायें भी विकल प्रभाहीन सी लुप्तप्राय हो रही हैं। (मुर्गे की बांग सुनकर) अरे, ये ताम्रचूड़ भी बोल उठा। आप आज तनिक भी विश्राम न कर पाये।

सुखानन्द – प्रिये ! जीवन के कई वसंत देख चुका। आराम करते-करते तरुणाई भी आ गई। अब तो पुरुषार्थी बनना है। भोर हुआ ही चाहता है। जाऊँ प्रातःकालीन नित्य कर्मों से निवृत्त होकर माता-पिता से अनुमति एवं आशीर्वाद ले आज ही विदेश के लिए प्रस्थान कर दूँ, शुभस्य शीघ्रम्। तुम भी विदा दो।

मनोरमा – (सजल नेत्रों से चरण छूकर) जाईये नाथ ! मेरी शुभकामना आपके साथ हैं।

दूसरा दृश्य – समय दोपहर

(दोनों चले जाते हैं। सुखानन्द के प्रस्थान के एक सप्ताह पश्चात्)

कमरा सजा हुआ सुन्दर प्रतीत हो रहा है। दीवारों पर चित्र लगे हैं। एक ओर सुन्दर पलंग पर मखमली बिछायत बिछा है, दो चार कुर्सियां पड़ी हैं। जमीन पर आसनी बिछाकर मनोरमा बैठी है। सामने चौरंग रखी है जिस पर अध्ययन ग्रंथ है, वे अध्ययन में तल्लीन हैं। किसी के आने की आहट पाकर द्वार की ओर देखती है, इतने में एक कुबड़ी स्त्री झुकी हुई विचित्र चाल चलती हुई सामने आ जाती है। अपरिचिता को देखकर मनोरमा एक-टक देखती रहती है। फिर सहसा उसे बैठने के लिये आसन देती है। पर वह दासी जो है, अपने लम्बे चौड़े लहंगा ओढ़नी को सम्हालती हुई जमीन पर बैठ जाती है।

मनोरमा – आओ बहिन आसन ग्रहण करो।

दूती – (धरती में बैठकर) कहो कुशल तो है, बड़ी उदास सी प्रतीत हो रही हो। चाँदसा मुखडा कैसा कुम्हला गया है !

मनोरमा – नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। बहिन, दुःख है कि मैं तुम्हें पहिचान नहीं पाई। यह अकारण आत्मीय सा व्यवहार पाकर मैं कृतकृत्य अवश्य हूँ। क्या अपना परिचय देने की कृपा करोगी ?

दूती – क्यों नहीं। मैं इसी वैजयन्ती नगर के राजकुमार की निजी परिचारिका हूँ।

मनोरमा – (आश्चर्य से) राजकुमार की परिचारिका मेरे पास ! किस अभिप्राय से आई हो बहिन ?

दूती – लावण्यमयी सुन्दरी ! तुम्हारे पतिदेव तुम्हें ऐसी तरुण वय में त्यागकर विरहणी बनाकर चले गये। यह उन्होंने नितांत अनुचित कार्य किया है। घर में किस बात की कमी थी जो परदेश चल दिये। कदाचित् किसी सुन्दरी से प्रेम सम्बन्ध तो स्थापित......

मनोरमा – (क्रोधित होकर बीच ही में) तुम्हें मेरे पति के विषय में उचित-अनुचित निर्णय देने का अधिकार किसने दिया ? तुम केवल अपनी बात कह सकती हो।

दूती – सेठानीजी ! आप तो गुस्सा हो गयीं। पर गुस्से में भी लाल-लाल मुखारविंद अत्यन्त सुन्दर प्रतिभासित हो रहा है। इसी सुन्दरता पर तो हमारे राजकुमार लाख-लाखवार न्योछावर हैं। चलो सुन्दरी, रानी बनकर महलों में नित नये सुखों का उपभोग.......

मनोरमा – (अत्यन्त क्रोधित हो) अरी दूती। ऐसी निकृष्ट बातें मुझ शीलवन्ती से कहते तुझे लज्जा नहीं आती ! तेरा राजकुमार भी बड़ा ही धूर्त्त है, नीच है, पापी है जो ऐसी दुश्चेष्टा करता है। पापिष्ठा, निकल यहाँ से।

दूती – तनिक शांति से विचार करो सुन्दरी ! राजकुमार तुम्हारी नित्य अभ्यर्थना करेगा। इस वैजयन्ती राज्य का अतुल वैभव तुम्हारे पैरों तले लोटेगा और एक दिन वह आयगा; जब यहाँ की राजरानी कहलाओगी।

मनोरमा – आग लगे तेरे वैभव में। निकल बाहर। मुझे नरक में घसीटना चाहती है चांडालिन (हाथ से बाहर जाने का संकेत करती है)

दूती – एक-बार सोच लो सुन्दरी ! यह कंचन सी काया सुखाने योग्य नहीं।

मनोरमा – (दुतकारती हुई) जा-जा बड़ी आई उपदेश देने।

दूती – जाती तो हूँ; परन्तु तुम्हारे द्वारा मेरे अपमान का प्रतिफल अच्छा न होगा। (चली जाती है)

मनोरमा – (स्वगत, व्यंगात्मक स्वर से) अपमान का प्रतिफल अच्छा न होगा। क्या कर लेगी ये मेरा........(दुखित हो) कैसी दुनियाँ है ? ये विषयाभिलाषी कामुक पुरुष शीलवतियों पर आँखें उठाते हैं। उनका शील लूटना चाहते हैं, धिक्कार है इन पापियों को। *(परदा गिरता है)*

तीसरा दृश्य – समय दोपहर

(सुखानन्द की माँ सुवृता का कमरा)

सुवृता का कमरा भी अच्छा सजा हुआ है। वे इस समय शीतल पाटी पर विश्राम कर रहीं हैं। उपर्युक्त दूती यहाँ आती है। अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये सुवृता के कान भरती है।

दूती – (हँसकर) अरे आप मुझे पहिचानी नहीं। मैं तो आपको पहिचानती हूँ। हम गरीब को कौन जाने ? आपके नगर के राजकुमार की दासी हूँ। यहाँ से निकली, तो सोचा आप से मिलती चलूँ। कुछ आवश्यक बात करना थी, पर आपके आराम में बाधा डालकर मैंने अच्छा नहीं किया। क्षमा करें, मैं जाती हूँ।

सुवृता – मैं तो जाग ही रही थी। बैठ जा कह, क्या कहना चाहती है।

दूती – एक बात है, पर ....

सुवृता – पर क्या, बोल ना, रुक क्यों गई ?

दूती – कैसे कहूँ, कहते हुये मुझे डर लगता है। बड़ा साहस करके आप तक आ तो गई परन्तु...नहीं...अब नहीं कहूँगी। आपको व्यर्थ ही कष्ट दिया।

सुवृता – अरी कह तो सही क्या बात है ?

दूती – नहीं माँ जी, डर लगता है।

सुवृत्ता – अच्छा, मैं तुझे अभय करती हूँ, कह।

दूती – (यहाँ वहाँ देखती हुई, कोई सुन न ले इस प्रकार का अभिनय करती है।) माताजी ! कहने में संकोच होता है, पर कहे बिना रहा नहीं जाता। तुम्हारे पुत्र तो परदेश गये और पुत्रवधु मनोरमा ने राजकुमार से घनिष्ठता स्थापित कर ली। रोज ही वह देवदर्शन के बहाने महलों में जाती है। मैं राजकुमार की दासी हूँ, पर एक भले घर की लाज लुटते नहीं देख सकती। अतः आपको आगाह करने आई हूँ।

सुवृत्ता – खबरदार ! जो ऐसी बातें मुँह से निकालीं। मेरी सती जैसी बहू पर ऐसा घृणित लाँछन लगाते तुझे शर्म नहीं आती।

दूती – हाय, जमाना बड़ा खराब है। मैं तो यह सोचकर आई थी कि आपके कुल की बदनामी न हो और आप उस पाप को आगे न बढ़ने दें। मेरा क्या ? सच में मुझ अभागिन को करना भी क्या ? नहीं देखा गया माताजी, सो आई थी। आप जाने और आपकी बहू।

सुवृत्ता – यह सच है ? यदि बात झूठ हुई तो ?

दूती – तो मेरा सिर धड़ से अलग करवा देना। (दृढ़ता से) माँ जी ! यदि मैं झूठ बोलूँ तो मेरी जिह्वा जल जाये, मुझे कोढ़ निकले। अंधेपन सा दुःख दूसरा नहीं है। इन आँखों की कसम, ये दोनों फूटें जो यह बात झूठ निकले तो।

सुबृत्ता – (अत्यन्त दुःखी होकर विस्मयपूर्वक) मनोरमा दुश्चरित्रा हो सकती है ?

दूती – अच्छा माँ जी, मैं जाती हूँ। सारा काम छोड़कर आई थी। मुझे माफ करना अभी किसी को मालूम नहीं है बहू को चुपचाप समझा लेना। (चली जाती है)

सुवृत्ता – (स्वगत) विद्वानों ने सच कहा है– नारी नागिन है। 'स्त्रीचरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' अभी चन्द दिन ही तो हुये हैं सुखनन्द को घर छोड़े और इस पापिन ने अपना शील बेच डाला। शीलव्रत

भंग कर व्यभिचारिणी ने दोनों कुलों की निर्मल कीर्ति में कलंक लगा दिया। 'हाथ कंगन को आरसी की क्या आवश्यकता' (कमरे में क्रोधित हो चहल कदमी करती है) अच्छा हुआ जो श्यामा बता गई। नहीं तो न जाने भविष्य में क्या-क्या देखना पड़ता ....(जोर से पुकारती है) सुसीमा.......

सुसीमा – आई माताजी ! (सम्मुख आकर) कहिये क्या आज्ञा है ?

सुवृत्ता – सेठजी को अभी इसी समय यहीं अंतःकक्ष में शीघ्र बुला लाओ।

सुसीमा – अच्छा

सुवृत्ता – (सोचते हुये) क्या करना चाहिये, कुछ समझ में नहीं आता। कैसे इस दुष्टा से पिंड छूटे। चुपचाप विष दे दूँ तो अच्छा रहेगा। 'सांप मरे न लाठी टूटे।' मर भी जायगी और किसी को पता भी न लगेगा। लोक निंदा से कुल की रक्षा भी हो जायगी।...... पर नहीं.....उसकी हत्या का पाप कौन ले ?

सुसीमा – माँ जी ! सेठजी राजदरबार में गये हैं। आने का निश्चित समय नहीं बतला गये। (चली जाती है)

सुवृत्ता – सेठजी कौन जाने कब तक आवें ? मुझे अकेले ही निर्णय करना होगा। अब उसका इस घर में रहना क्षणभर भी सह्य नहीं। अपनी लाज रखना है तो चुपचाप बिना किसी माया-मोह के घर से निकाल देना चाहिए। उसका निवास स्थान भयंकर निर्जन वन ही है। आप ही विलख-विलख प्राण दे देगी। किये का फल भी भुगतेगी। जाऊँ, विलम्ब न करूँ उस कलमुँही को निकाल घर की शुद्धि करूँ....। सेठजी से परामर्श कर लेती तो उनकी सम्मति ज्ञात हो जाती, पर .....रूकूँ कैसे ?.......वे मुझसे विरुद्ध न होंगे। सारथी यमदण्ड को बुलाकर मनोरमा के वनवास का आदेश दिये देती हूँ। (चली जाती है।)

(परदा गिरता है)

चौथा दृश्य

वन का दृश्य। चारों तरफ झाड़झंखाड़ हैं। पवन सांय-सांय कर रही है। कभी-कभी भयंकर पशु-पक्षियों की आवाज वन की नीरवता को नष्ट कर देती है। यहीं मनोरमा असहाय एकाकी मूर्च्छित पड़ी है। परदा उठता है।

मनोरमा – (मूर्च्छितावस्था से उठकर) हाय ! अब मैं कहाँ जाऊँ ? (विलखती है) माताजी, तुमने एकबार मुझसे तो पूछ लिया होता। यदि सारथी ने दया कर यह सब वृतान्त न बतलाया होता तो मैं बिलकुल अनभिज्ञ रहती। कारण का कुछ भी पता न चलता....। हे प्रियतम ! मुझे भी क्यों न अपने साथ ले गये। मैंने लाख अनुनय-विनय की, परन्तु मुझे कष्ट न हो अतः घर पर ही छो..ड़ गये। (सिसकियाँ भरती है)...आह !....पर मुझ अभागिनता के भाग्य में सुख कहाँ..... बदा... था। हे मेरे जीवनाधार ! जिसे तुमने कभी फूलों की छड़ी से भी नहीं छुआ, आज वही दर-दर की भिखारिन बनके कंटको में बैठी है। हाय ! जब तुम लौटोगे तब सूनी अटारी देखकर क्या अवस्था होगी ? (फिर रोने लगती है) हे मृगराज ! मुझे भक्षण कर अपनी क्षुधा शान्त कर लें। कृतकृत्य हो जाऊँगी। हे जंगली पशुओं ! दया कर मेरा जीवन समाप्त कर दो।.....इस कलंकी जीवन से मरण ही श्रेयस्कर है। वाह रे कर्म, तू जितने नाच नचाये सब थोड़े हैं। पर दोष किस पर दूँ– ये कर्म भी तो मेरे द्वारा किए हुए ही है। जड़ कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है। वासत्विक दुःख का कारण तो मेरा मोहभाव ही है।

प्रार्थना

है इस विजन में मुझको, प्रभुवर शरण तुम्हारी।
असहाय हूँ अकेली, दुख संकटों की मारी॥
था पाप कौनसा वह, जो अब उदय में आया।
हा ! शील पर कि जिसने, लाँछन बुरा लगाया॥
निर्दोषता प्रमाणित हो, प्रार्थना हमारी।
है इस विजन में मुझको, प्रभुवर शरण तुम्हारी॥

मुझसी अनेक बहिनों ने, यह व्यथा सही है।
पर तव प्रताप से वह, स्थिर नहीं रही है॥
मम वेदना निवारो, है अब हमारी बारी।
है इस विजन में मुझको, प्रभुवर शरण तुम्हारी॥

(इतने में राजसी वेषभूषा से सुसज्जित राजगृह के राजकुमार आनन्द का प्रवेश)

राजकुमार आनन्द – (आश्चर्यान्वित हो) देवी ! इस निर्जन वन में तुम अकेली ? क्या तुम्हारे साथी विछुड़ गये हैं या तुम मार्ग भूल गई हो।

मनोरमा – भैया ! मैं कर्मों की मारी भाग्य की सताई हूँ। जाओ कृपाकर अपना रास्ता देखो।

आनन्द – देवी, दुखित न हों। कृपया अपना परिचय दें। मैं दुःख-निवारण में तुम्हारी प्राणपन से चेष्टा करूँगा।

मनोरमा – बंधु ! मुझे अपनी पूर्व करनी का फल भुगतने दें। सहायता की मैं तनिक भी इच्छुक नहीं।

आनन्द – नहीं देवी ! मानव धर्म है कि दूसरों की सहायता करें। मैं एक दीन-हीन अवला को साक्षात् कालकी दाढ़ में जान-बूझकर नहीं छोड़ सकता। मेरे पौरुष को चुनौती है और इस चुनौती को स्वीकार न करना पुरुषार्थ पर कलंक लगाना है। कहाँ हैं तुम्हारे कुटुम्बी ? मैं अपने गुप्तचरों से धरती का चप्पा-चप्पा छनबाकर उनका पता लगवा लूँगा।

मनोरमा – मेरे हितैषी बन्धु ! मैं कुछ भी बतलाने में असमर्थ हूँ।

आनन्द – जान पड़ता है आपको तीव्र मानसिक आघात पहुँचा है। अस्तु, परिचय पूछने की धृष्टता न करूँगा। आज्ञा दें, मैं उसी गंतव्य स्थान तक आपको पहुँचा दूँ।

मनोरमा – यह विजन ही मेरा घर है। पशु-पक्षी मेरे स्नेहीजन। मेरे जीवन-मरण की डोर इसी वन से बंधी है।

आनन्द – तब तो बहिन तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। मैं किसी प्रकार का कष्ट अनुभव न होने दूँगा।

मनोरमा – नहीं, यह असम्भव है।

आनन्द – असम्भव कुछ भी नहीं बहिन। क्या भाई पर बहिन का विश्वास नहीं ? उठो बहिन, चलो। हमारे तुम्हारे मध्य भगवान साक्षी हैं। महलों में रहकर तुम धर्मसाधन करना। कोई विघ्न बाधा न आयेगी।

मनोरमा – व्यर्थ ही कष्ट न करें आप तो अच्छा हो।

आनन्द – कष्ट की क्या बात, यह तो मानव का कर्त्तव्य है। (अत्यन्त स्नेहपूर्वक) चलो चलें।

मनोरमा – नहीं मानते तो चलती हूँ।

आनन्द – (स्वगत) अब तो मजे ही मजे हैं। आखिर शिकार फँस ही गया। (दोनों चले जाते हैं)

पाँचवाँ दृश्य

महल में मनोरमा बैठी है। कमरा राजसी ठाठ से सजा हुआ है। गलीचे कालीन यत्र तत्र बिछे हुये हैं। बहुमूल्य झाड़ फानूस लटक रहे हैं। कुछ कुर्सियां बैठने के लिये रखी हैं। मनोरमा विचारमगन है।

मनोरमा – (स्वगत) क्या करूँ प्रभु ! हृदय में शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। आनन्द भैया ने मेरी प्रसन्नता हेतु सभी सुख-साधन उपलब्ध कर दिये हैं। पर मुझे चैन कहाँ ? पति सुखानन्द की सुधि क्षण-क्षण हृदय को झकझोरती है। उनकी मुख छबि आँखों में अहर्निश झूला करती है। न जाने कब दर्शन होंगे। उन्हीं की आशा में प्राणों को संजोये हूँ।..... नारी जीवन की विडंवना- न मर पाती हूँ न जी पाती हूँ।

(राजकुमार आनन्द का प्रवेश)

आनन्द को देखकर मनोरमा खड़ी हो जाती है और उसे कुर्सी पर बैठने का आग्रह करती है। दोनों बैठ जाते हैं। वार्तालाप प्रारम्भ होता है।

आनन्द – मनोरमा, आज तुम विशेष उदास प्रतीत होती हो ?

(मनोरमा जो अभी तक बहिन संबोधन सुनने की अभ्यस्त हो गई थी। एकाएक इस नवीन सम्बोधन से चौंक उठती है। पर राजकुमार का अगला वाक्य उसे यथोचित परिस्थिति में स्थापित कर देता है। वह अपनी भ्रमपूर्ण धारणा पर मन ही मन लज्जित हो पश्चाताप करती है।)

मनोरमा – नहीं भैया ऐसी तो कोई बात नहीं है।

आनन्द – हृदय की बात मुखाकृति से पूर्णतः ज्ञात हो जाती है। तुम्हें क्या कष्ट है ? आतिथ्य में कौनसा अभाव खटकता है ? बतलाओ, सम्भवतः मैं पूर्ण कर सकूँ।

मनोरमा – व्यर्थ मुझे लज्जित न करें भैया। जब से आई हूँ तब से अनुभव कर रही हूँ कि तुम मेरे लिये चिंतित ही रहते हो। कितना कष्ट दे रही हूँ। सोचती हूँ, इस उपकार से कैसे ऊऋण हो सकूँगी ?

आनन्द – मैं कृतकृत्य हुआ। वचन दो कि सदा प्रसन्न ही रहोगी।

मनोरमा – ऐसे कर्त्तव्यशील भाई की बहिन बनकर मैं अपने को भाग्यशाली समझती हूँ।

आनन्द – पर मैं तुमसे कुछ और ही आशा रखता हूँ।

मनोरमा – स्पष्ट कहो। मैं तुम्हारा अभिप्राय समझी नहीं भैया।

आनन्द – सुन्दरी तुम्हारे मुख से ''भैया'' शब्द सुहावना नहीं लगता। मुझे प्रियतम कहकर सम्बोधित करो। कब तक अन्तर में दाह छिपाये रहूँ। जब से तुम्हारे सौन्दर्य का मधुपान नयनों ने किया है; तब से हृदय दग्ध हो रहा है। अपना शीतल प्यार दे मुझे तृप्त करो प्यारी !

मनोरमा – (तीव्र क्रोध से काँपते हुये) अरे नराधम ! कुछ समय पहिले जिस मुख से तूने मूझे बहिन कहा था, उसी मुख से कुवचन निकालते तुझे लज्जा नहीं आती। तेरी जिह्वा के शत-शत खण्ड नहीं हो जाते।

आनन्द – बस करो रानी ! इतना ही बहुत है। यह बहिन की केंचुली शीघ्र उतार फेंको, और मन चाहे सुख भोगो। मैं अपनी सब पत्नियों में तुम्हें पटरानी बनाऊँगा। तुम्हारी आज्ञा यह दास सदा सिर माथे पर रखेगा।

मनोरमा – नीच, कामुक ! क्या इसीलिये तू मुझे जंगल से लाया था ? मुझे वहीं छोड़ दे।

आनन्द – (अट्टहास करते हुये) हः हः हः अः....... वहीं छोड़ दूँ ? अरे तुम नहीं जानती स्त्रियाँ पुरुषों की वासना तृप्ति की साधिका ही तो हैं। इसी उपयोगार्थ मैं तुम पर होने वाला व्यय सहन कर रहा हूँ।

मनोरमा – अरे गोमुखी व्याघ्र ! तूने यह भ्रामक वेष धारण कर भाई के पवित्र स्नेह को कलंकित किया है।

आनन्द – उपदेश सुनने का अभिलाषी नहीं, मुझे तो तृप्त कर दो प्यारी।

मनोरमा – घृणित वासना की तृप्ति और मुझसे ! (गरजकर) आग की लपटों से मत खेल मूर्ख ! झुलस जाएगा। सिंहनी के दाँत गिनने का पागलपन न कर। जानता है, प्रतिशोध लेने वाली नागिन से कोई जीवित नहीं बचा।

आनन्द – (व्यंग से) खूब अभिनय की कला में भी निष्णात हो........। देखो, प्रेम से मेरी बात मान लो (आग्रह पूर्वक) यहाँ तुम्हें जानता भी कौन है। मर्यादा और शर्म तो परिचितों की हुआ करती है। सतीत्व के ढोंग में क्या रखा है ?

मनोरमा – कोई जाने या न जाने। अन्तरयामी प्रभु तो सब जानते हैं, मेरा और तुम्हारा आत्मा तो जान रहा है। अरे पापी, पाप की आंधी में फंसकर घोर नरकवास ही भोगना होगा।

आनन्द – छोड़ो प्रिये ! यह धर्मकर्म। इसके पचड़े में नहीं पड़ा करते। खाओ, पिओ और मौज करो।

मनोरमा – चुप रह नीच ! बहिन कहकर धर्म साधन का प्रलोभन दिया। मेरी बुद्धि भी मारी गई जो तुम जैसे रंगे सियार पर विश्वास कर बैठी।

आनन्द – प्रियतमा की गालियाँ भी कर्णप्रिय होती हैं। सब कुछ तो कह चुकी, अब मनोरथ पूर्ण करो (हाथ पकडने के लिये आगे बढ़ता है)

मनोरमा – (घबराकर) खबरदार जो एक कदम भी आगे बढ़ाया तो (पीछे हटकर हाथ जोड़ प्रार्थना करती है) हे प्रभु, दीनबन्धु ! मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ है। यहाँ मेरा कोई नहीं।

मेरा सर्वस्व लुटा जा रहा है। यह नरपिशाच, वासना का कीट मेरा सतीत्व नष्ट करने पर तुला है। रक्षा करो भगवन् ! रक्षा करो। यदि मैं भ्रष्ट हो गई तो धर्म की मर्यादा लोप हो जाएगी। युग युगों तक मानव धर्म पर विश्वास न कर सकेगा।

आनन्द – देखता हूँ यहाँ तेरी रक्षा के लिये कौन सा भगवान नीचे उतरता है। (हाथ पकड़ना चाहता है कि अदृश्य शक्ति के द्वारा पीठ पर मार पड़ने लगती है। राजकुमार यहाँ वहाँ भागता है, चीखता और चिल्लाता है पर मार पड़ना बन्द नहीं होती। हारकर मनोरमा की शरण ग्रहण करता है) हाय मरा, मरा रे बचाओ ! हे पुण्यशीला जननी मेरी रक्षा करो।

मनोरमा – (आनन्द के कातर वचनों को सुनकर दयार्द्र हो जाती है। अदृश्य शक्ति को लक्ष्य कर) मेरे अकारण हितैषी महानुभाव ! आपने मेरी रक्षा कर नारियों में शील के प्रति दृढ़तम विश्वास जगा दिया है। मैं उपकृत हुई एवं अपने उपकर्त्ता के पुण्यदर्शन कर कृतकृत्य होना चाहती हूँ। बार-बार अभ्यर्थना करती हूँ। कृपया मेरा अनुरोध स्वीकार कर प्रगट हो ओ। तथा राजकुमार आनन्द को क्षमा करें। (उत्तम वस्त्रालंकारों से वेष्टित सुन्दर रूपवान देव का प्रगट होना। नेपथ्य में मधुर ध्वनि होती है)

देव – शील शिरोमणि देवी मनोरमा ! आपको शील पर दृढ़ देखकर स्वर्ग में इन्द्र का आसन कंपायमान हुआ। उन्होंने अवधिज्ञान से तुम्हारे कष्ट को जानकर निवारणार्थ मुझे भेजा है। सत्य ही देवराज इन्द्र ने आपके पतिव्रत की जैसी प्रशंसा की थी, उससे भी अधिक प्रत्यक्ष मैंने देखा। धन्य है देवी, तुम श्लाघ्यनीय हो। तुम सुर असुरों से पूजित हो, मैं तुम्हारा शत-शत

अभिनंदन करता हूँ। दुनियाँ जान ले कि अबला का बल शील उसे सबला बना संबल प्रदान करता है। शीलव्रत धारणकर नारी लोकोत्तर महान बन जाती है। देवी तुम्हारी जय हो।

(फूल बरसाकर अन्तर्द्धान हो जाता है)

आनन्द – (अत्यन्त कांपता हुआ) हे माता ! मैं बड़ा ही दुर्बद्धि पापी हूँ। तुम्हारे प्रताप से नितांत अनभिज्ञ था। मुझे क्षमा करो। आज्ञा दो, मैं किंकर की भांति तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।

मनोरमा – प्रथम तो तुम यह प्रतिज्ञा करो कि कभी किसी नारी को नहीं सताओगे और मुझे उसी निर्जन वन में छोड़ दो जहाँ से तुम ले आये थे। बस और मैं कुछ नहीं चाहती।

आनन्द – माता ! मैं तो चाहता हूँ कि तुम यहीं सुखपूर्वक रहो। यथाशक्य धर्मसाधन करो।

मनोरमा – नहीं भाई, मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं रहना चाहती।

आनन्द – अच्छा, तुम्हारी इच्छा वन निवास की है तो तुम्हारी आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है।

छठवाँ दृश्य

वियावान जंगल में मनोरमा बैठी हुई गा रही है।

गीत

ये जग स्वार्थी, कोई अपना नहीं है।
यहाँ आत्मा आज, कल फिर कहीं है॥ ये जग.॥
चतुर्गति में भटकी, नहीं चैन पाया।
अरे चेत् चेतन, ठिकाना नहीं है॥ ये जग.॥
नरकगति भी भोगी, अनन्ती भ्रमण में।
पशु मूक तो वेदना हा ! सही है॥ ये जग.॥
न सुरगति में सुख, निजधर्म के बिना ही।
ये नर जन्म दुर्लभ. गंवाना नहीं है॥ ये जग.॥

प्रभो ! बल मुझे दो कि संयम धरूँ मैं।
'किरण' ले जगत से तू शिक्षा यही है॥ ये जग.॥

(मनोरमा के मामा धनदत्त श्रेष्ठि का प्रवेश)

धनदत्त – (विस्मित से चारों ओर देखते हैं) इस निर्जन वन में करुण गीत की ध्वनि ! अवश्य कोई सम्भ्रांत कुल की ललना है। स्वर में कैसी सरलता दिग्दर्शित हो रही है। गीत में आध्यात्मिक रस बरस रहा है। जान पड़ता है भाग्य के दुर्विपाक से उस पर कोई महान कष्ट आ पड़ा है। ......ध्वनि इसी ओर से आ रही थी। चलूँ आगे बढ़कर देखूँ। (चारों ओर देखते हुये मनोरमा के पास पहुँच जाते हैं)

धनदत्त – हे पुत्री ! तुम इस निर्जन वन में एकाकी निवास क्यों कर रही हो ? (मनोरमा को भयभीत देखकर) घबराओ नहीं। तुम मेरी बेटी के समान हो निश्चित रहो। तुम्हारा कोई अनिष्ट न होगा। कहो, कहो बेटी ! निर्भय होकर कहो, अपनी विपन्नावस्था की कथा। तुम्हारे दुःख निवारण का भरसक प्रयत्न करूँगा।

मनोरमा – (स्वगत) "हे प्रभु ! क्या तुमने मेरी पुकार सुनली ?

(नेपथय से – धनदत्त श्रेष्ठी मनोरमा के मामा हैं, वह अपने कलंक की कथा मामा को बतला कर व्यथित नहीं करना चाहती तथा इस कलंकित अवस्था में उनके सामने भानजी के रूप में प्रकट भी नहीं होना चाहती। मामा उसे पहिचान नहीं पाये। वे स्वप्न में भी अनुमान नहीं कर सकते कि भानजी मनोरमा जिसका कि विवाह अभी कुछ ही वर्ष पहिले वैजयन्ती के नगर श्रेष्ठि के सुपुत्र सुखानन्द से हुआ था। वह इस बीहड़ वन में निस्सहाय अकेली होगी। इसके अतिरिक्त मनोरमा की निरन्तर बढ़ती हुई आयु के कारण तरुणाई की क्षण-क्षण परिवर्तित अवस्था होने के कारण अभी वे इस रहस्य से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं।)" हे पितृतुल्य महाभाग ! आपकी वाणी अपूर्व वात्सल्य की वृष्टि कर रही है। पर महामन ! कहीं मैं अभागिन अपनी बात बतला आपका सौहार्द्र न खो बैठूँ।

धनदत्त – बेटी, मैं वचन देता हूँ। तेरा यदि दुष्कर अपराध भी होगा तो उसे मैं सच्चे ह्रदय से क्षमा कर दूँगा। आश्वत होकर कहो।

मनोरमा – मैं वैजयन्ती नगर निवासी एक प्रतिष्ठित कुल की पुत्रवधू हूँ। मेरे पति व्यापार हेतु परदेश चले गये। पश्चात् किसी की मिथ्या बातों में आकर यथार्थ सत्य तथ्य जाने बिना सासूजी ने मुझे घर से निकालकर यहाँ भयंकर वन में छुड़बा दिया। (दुःखित होकर) एक दिन एक राजकुमार आनन्द वनक्रीड़ा के लिये आया। वह मुझे धर्मबहिन बना मेरी रक्षा का वचन दे मुझे अपने घर ले गया। शीघ्र हो उसका असली रूप प्रगट हुआ। उस नरराक्षस ने घृणित अत्याचार करना चाहा। भाग्यवश उस समय एक देव ने उसे प्रताड़ित कर मेरी रक्षा की। राजकुमार ने क्षमा मांगकर मुझे वहीं रखना चाहा पर मुझे वन में रहना ही यथेष्ठ था। अस्तु, तब से मैं यही हूँ।

धनदत्त – बेटी ! तुम पर सचमुच घोर संकट आया। आश्चर्य तो इस बात का है कि नारी ही नारी जाति पर अत्याचार कर बैठती है। चलो बेटी, मेरे यहाँ चलो। तुम्हें और भी बहिनें मिलेंगी। वहाँ दिन सुखपूर्वक कटेंगे। शनैः शनैः तुम्हारे पति के आगमन की जानकारी प्राप्त हो जायगी, तब कुछ निष्कर्ष भी निकल सकेगा।

मनोरमा – क्षमा करें। अपने पूर्वकृत कर्मों का दुष्फल भुगतने के लिये यही स्थान उपयुक्त है।

धनदत्त – तुम्हें मेरे यहाँ चलने में कौनसी आपत्ति है ? क्या मुझ पर विश्वास नहीं ? सभी मनुष्य एक से नहीं होते।

मनोरमा – (स्वगत) मन में आता है कि स्वयं को प्रगट कर दूँ। कह दूँ कि आप मेरे मामा हैं। मैं आपके प्रति ऐसी शंका की कल्पना भी नहीं कर सकती। (पर ऐसा कहना जैसे उसकी सामर्थ्य के बाहर है। केवल इतना ही कह पाती है प्रगट में) नहीं ऐसा न कहिये। आप तो मेरे पिता तुल्य है, आप पर मेरे ह्रदय में शंका उठना ही असम्भव है।

धनदत्त – तब फिर चलो। हाँ, एक बात तुम्हें और बता दूँ। मेरी भानजी

मनोरमा भी तुम्हारे ही नगर के श्रेष्ठि महीपाल के यहाँ ब्याही है। सुना है दामाद सुखानन्द वाणिज्य-हेतु परदेश गये हैं। कदाचित् तुम्हारा उनसे परिचय हो। तुम अपने श्वसुर आदि का नाम बतला देना तो मैं समधी महीपालजी को सच्चा वृत्तांत बताकर नगर नरेश से न्याय करवाऊँगा। सतीत्व की अवहेलना करना हँसी-खेल नहीं है।

(मनोरमा आवेग न सम्हाल सकने के कारण रो पड़ती है। उसकी हिचकियाँ बंध जाती हैं। आँखों से निरन्तर अश्रुप्रवाह होने लगता है और वह आँचल के छोर से मुँह छिपा लेती है।)

धनदत्त – रोने क्यों लगी बेटी ! अनायास तुम्हें क्या हो गया ? धैर्य धरो, घबराओ नहीं। कर्मों के चक्र से बड़े-बड़े सामर्थ्यवान भी नहीं बचे। रो-रोकर मन उदास न करो।

मनोरमा – मामा ! तुम्हारी मनोरमा तो मैं ही हूँ। मुझे क्षमा करो।

धनदत्त – (अश्रुपात करते हुये हृदय से लगा लेते हैं। हर्ष-विषाद के कारण मुँह से बोल नहीं फूटते) तुम.......तुम.......मनोरमा (दोनों ओर से कुछ क्षण अश्रुवर्षा होती है पश्चात्) मेरी बेटी पर यह वज्रपात ! भगवान ! यह कैसी विडम्बना। सुखों में पली सुकुमारी कन्या पर यह महान दुःख ! कुलीन पुत्री पर घृणित दोष लगाकर उन लोगों ने उचित नहीं किया।....... आश्चर्य, मेरी आँखों पर ऐसा परदा पड़ा कि इतनी देर तक मैं पहिचान ही नहीं सका। और बिटिया ! तू भी न पहिचान सकी अपने मामा को।

मनोरमा – पहिचान तो गई थी। पर....पर मैंने सोचा व्यर्थ ही आपको दुखित करूँ। जब आपका घर ले चलने का विशेष आग्रह देखा तो मुझसे न रहा गया। स्वयं को प्रकट कर ही बैठी।

धनदत्त – अर्थात् तू जानबूझकर घर नहीं चलना चाहती थी। क्यों न ? धन्य है तेरी सहिष्णुता। सच है जिस समय मनुष्य पर विपत्तियाँ आक्रमण करती है; उस समय प्रकृति ज्ञान का भण्डार खोल देती है।

मनोरमा – और ज्ञान से उत्पन्न धैर्य सम्बल बन जाता है।

धनदत्त – चल बेटी ! विलम्ब न कर।

मनोरमा – आपका आश्रय पा मैं कृतार्थ हुई। चलें।

(परदा गिरता है)

नेपथ्य से – मामा धनदत्त अपनी भानजी मनोरमा को अपने यहाँ ले आते हैं एवं सुखपूर्वक रखते हैं। यद्यपि मनोरमा शारीरिक कष्ट से तो अवश्य मुक्त हो गई थी, तथापि पतिव्रता का मानसिक कष्ट दिन दूना रात चौगुना वृद्धिंगत हो रहा था। वह खिन्न मन रहती। इसी तरह वह हर्ष-विषाद मिश्रित काल-यापन कर रही थी।

इधर कुमार सुखानन्द ने अपनी विलक्षण बुद्धि से व्यापार में आशातीत सफलता प्राप्त की। लम्बी अवधि व्यतीत होने पर स्वजनों का विछोह उनके हृदय में खटकने लगा। तब स्वअर्जित अतुल वैभव के साथ मातृभूमि की ओर लौट पड़े। मार्ग में क्रम-क्रम से उन्हें माता-पिता, बंधु-बांधवों की सुधि आ रही थी तथा उनसे मिलने के लिये आतुरता थी। प्राणप्रिय अर्द्धांगिनी मनोरमा की भोली-भाली मुखाकृति नेत्रों के आगे नृत्य करने लगी। वे अतीत की मधुर यादों में लीन हो गये।

पथविस्तृत, जल्दी समाप्त कैसे हो। समय अविराम गति से सरकता जा रहा था। इतनी लंबी प्रतीक्षा के लिये मन में धैर्य न था। वे विचारने लगे– काश ! मैं पक्षी होता तो उड़कर शीघ्रातिशीघ्र अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच जाता। आनन्दविभोर हो मधुर मिलन की घड़ियों की प्रतीक्षा करते हुये ज्यों-त्यों कर कुछ दिनों में नगर के समीप आये। वे प्रमुदित मन सोच रहे थे कि जब मैं देश-देश के नये-नये अनोखे उपहार प्रिया को भेंट करूँगा तो वह आश्चर्यान्वित हो उठेगी। सहसा उनका हृदय एक अज्ञात आशंका से कांप उठा। ठीक इसी अवसर पर उन्हें किसी नागरिक के द्वारा यह दुःसंवाद मिलता है कि मनोरमा को कलंक लगा कर घर से निकाल दिया है। यह सुनते ही वे मूर्च्छित हो गये। जागृत होने पर सब सामान पिताजी की सेवा में समर्पण करने के लिए साथियों को सौंप दिया। स्वयं योगी का वेष धारण कर

गृहलक्ष्मी की खोज में निकल पड़े। वियोग की ज्वाला में जलते जंगलों और नगरों में भटकते रहे। दैवयोग से काशी में पहुँचने पर मनोरमा के मामा धनदत्त के यहाँ सहधर्मिणी का पता लगा। चिरवियोग की घड़ियां समाप्त हुई।

सातवाँ दृश्य

काशी में धनदत्त का मकान। सुखानन्द दरवाजे पर आते हैं। बहुत दिनों से कंथचित् आहार न होने के कारण उनकी काया कृश हो गई है। और अस्त-व्यस्त वेशभूषा दरिद्रता की ही परिचायक है। फिर भी भव्य मुखाकृति भद्रता और श्रेष्ठता को सूचित कर रही है। तन पर एक धोती और फटासा उतरीय है। केश बढ़े हुये रुक्ष हो यत्र-तत्र बिखरे हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कई दिनों से संवारे न गये हों। धनदत्त के द्वार पर दो छोटे-छोटे बच्चे खेल रहे हैं। एक लगभग आठ साल का और दूसरा ग्यारह साल का है।

सुखानन्द – क्यों बच्चो ! धनदत्त श्रेष्ठी का मकान यही है ?

मंगल – हाँ हाँ यही है। क्यों आपको क्या काम है ?

सुखानन्द – मुझे उनसे मिलना है। वे घर पर हैं ?

मंगल – नहीं हैं, ठहरिये मैं बुलाये देता हूँ।

सुखानन्द – सुनो तो सही, धनदत्तजी क्या तुम्हारे पिता हैं। (दोनों बच्चें हँसने लगते हैं)

मंगल – पिता नहीं, हमारे बाबा हैं।

सुखानन्द – अच्छा ! तो बच्चो तुम्हारा नाम क्या है ?

जम्बू – मेरा नाम जम्बू और (बड़े भाई की ओर संकेत करते हुये) बड़े भइया का नाम.....।

मंगल – (बात काटकर) मेरा नाम तू क्यों बताता है (धीरे से चपत मारना) मैं खुद बता दूँगा। हाँ तो महाशयजी मेरा नाम मंगल है।

जम्बू – (रोने लगता है) ठहरो ! तुमने आज मुझे फिर मारा मैं तुम्हारी शिकायत बुआ से करूँगा। तुम भूल गये तुमने मनोरमा बुआ के सामने कान

पकड़कर दस बार दण्ड बैठक नहीं लगाई थीं कि अब मुझे न मारोगे। और आज फिर.........

सुखानन्द – जम्बू ! ये मनोरमा बुआ कौन हैं ?

जम्बू – (हर्षित होकर) हैं, हमारी वैजयन्ती नगर वाली बुआ हैं। बड़ी अच्छी है।

मंगल – (उछलकर) हाँ और जब से उन्हें दादाजी यहाँ ले आये हैं तब से हम लोगों को बड़ा अच्छा लगने लगा है।

जम्बू – देखिये। ये था निरा बुद्धू। कक्षा में सबसे पीछे। बुआ ने पढ़ा पढ़ाकर चतुर बना दिया।

सुखानन्द – ओहो ! तो तुम्हारी बुआ अध्यापिका भी हैं। क्या मुझे भी पढ़ा देंगी ?

जम्बू – धत् ! आप इतने बड़े होकर पढ़ेंगे। हम लोगों ने कब से पढ़ना प्रारम्भ कर दिया है।

सुखानन्द – क्या हुआ ? क्या पढ़ना बुरी बात है ? हैं कहाँ तुम्हारी बुआ, मैं स्वयं ही उनसे पूछ लेता हूँ।

मंगल – अभी नहीं।

सुखानन्द – क्यों ? क्या अभी कुछ काम में लगी हैं।

जम्बू – नहीं । कुछ समय पहिले मैं उनके पास गया था, तब वे रो रही थीं। मुझसे बोली, अभी खेलो फिर आना।

मंगल – हाँ, हमारी बुआ चाहे जब रोने लगती हैं। दादीजी, दादाजी बहुत सांत्वना देते हैं। न जाने उन्हें कौनसा दुःख है।

जम्बू – एक बार माँ कह रही थीं कि बुआ को फूफाजी की याद आ जाती है तो वे रोने लगती हैं।

मंगल – फूफाजी बड़े खराब हैं आते ही नहीं।

जम्बू – मेरा वश चले तो अभी पकड़ कर ले आऊँ फूफाजी को।

सुखानन्द – (नेत्र सजल हो जाते हैं) तुम्हारे फूफा को तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ।

मंगल – सच ?

सुखानन्द – उनका नाम सुखानन्द है न।

जम्बू – हाँ यही नाम दादी माँ लेती हैं।

सुखानन्द – वैजयन्ती नगर में रहते हैं। अभी कुछ दिन पहिले बाहर से आये हैं।

मंगल – (हर्षित हो) अरे आप तो सारा वृतांत जानते हैं ? अवश्य ही आप कोई पहुँचे हुये महात्मा हैं।

जम्बू – (भीतर दौड़ता हुआ जाता है) बुआ ! बुआ ! बाहर द्वार पर एक साधु आये हैं। वे फूफाजी की बातें बतला रहे हैं। चलो बुआ, चलो। (आंचल पकड़कर ले आता है)

सुखानन्द – मनोरमा तुम मिल गयीं ? कृतकृत्य हुआ मैं।

मनोरमा – (हर्षित हो) दर्शन पाकर कृतार्थ हुई देव। यह परिवर्तन कैसा? डबडबाई हुई आँखों से चरण छूती है।

सुखानन्द – (मनोरमा का हाथ पकड़ते हुये पैर हटाकर) नहीं ! मुझे पैर पुजाने का अधिकार नहीं।

मनोरमा – भला आप यह कैसी बात कर रहे हैं। चलिये अंतरकक्ष में चलें।

मंगल और जम्बू – (हर्षोल्लास के साथ) फूफाजी आ गये। फूफाजी आ गये।

मंगल – (जम्बू से) तू दादी माँ को फूफाजी के आने की खबर दे दे। और मैं दादाजी को यह शुभ संवाद सुनाता हूँ।

मनोरमा – आपकी मनोदशा स्वस्थ प्रतीत नहीं होती। आप कहाँ से आ रहे है ? क्या व्यापार में कुछ हानि हो गई है ?

सुखानन्द – (आह भरते हैं) हाँ ! जीवन के व्यापार में लम्बा नुक्सान खा बैठा हूँ। मनो ! तुम्हें मेरे कारण बहुत दुख देखना पड़े। तुम यहाँ कैसे आ गई ? मैंने सुना था तुम्हें माताजी ने जंगल में असहाय छुडवा दिया था।

मनोरमा – ये व्यर्थ की बातें जाने दीजिये। आप यहाँ इस तरह अचानक कैसे आ गये ? व्यापार कैसा था ? सब साथी कहाँ हैं ?

सुखानन्द – ओह ! तुम्हारी शंका उचित है। मैं पहले अपनी आपबीती ही बता दूँ। मनोरमा ! तुमसे विदा लेकर हमारे जलपोतने रत्नद्वीप की ओर प्रयाण किया। मार्ग में अनेक देश देशांतरों में सामग्री का क्रय-विक्रय करते हुये लक्ष्य पर पहुँचे। वहाँ से रत्नादि विविध सामग्री ले स्वदेश सकुशल लौटे।

मनोरमा – प्रसन्नता है कि आपकी यात्रा सफल हुई।

सुखानन्द – वैजयन्ती नगर की सीमा पर ज्ञात हुआ कि मेरे पीछे से तुम्हारी कितनी दुर्दशा हुई है। धैर्य न रहा ? जिस वैभव ने मुझ से तुम्हें पृथक कर विरहाग्नि की वन्हि में जलाया और कल्पनातीत वेदना से व्यथित किया। वह निधि माता-पिता को समर्पित करने का उत्तरदायित्व साथियों पर छोड़ मैं तुम्हारी खोज में निकल पड़ा।

मनोरमा – हाय हाय मेरे कारण आपको इतने दारुण कष्टों का सामना करना पड़ा। भला ऐसा भी क्या मोह। यह कार्य तो अनुचरों के द्वारा भी हो सकता था।

सुखानन्द – प्रिये ! इससे अंतर्व्यथा शांत न होती, सन्तुष्टि कैसे मिलती जबतक मैं कुछ प्रायश्चित न करता। जंगलों-जंगलों की खाक छानी। नगर-नगर भटका पर तुम्हारी छबि का आभास भी न मिला। बस जीवन बच गया, (निराशा भरे स्वर में) सोचा इसका भी अन्त कर दूँ।

मनोरमा – नहीं ! नहीं ! ऐसी अशुभ बातें मुँह से न निकालिये नाथ! आप युग-युग जियें। आपको मेरी उम्र भी लग जाए।

सुखानन्द – सो तो देख रहा हूँ कि विधाता को यह स्वीकार नहीं था। आशा ने पुनः अपना सम्मोहन मन्त्र चलाया। उसी से प्रेरित हो मैं तुम्हारे मामा के यहाँ आया। सहसा तुम्हें देख अतृप्त नयन तृप्त हुये।

मनोरमा – मुझ पर दैव (भाग्य) अति प्रसन्न है कि घर पर ही प्रियतम

के दर्शन हुये..... ओह मैं तो भूल ही गई। स्वार्थी जो हूँ न। अतीत की सुधि दिला-दिलाकर व्यथित कर रही हूँ। स्नान-भोजन आदि का ध्यान ही नहीं।

(मंगल के साथ धनदत्त का प्रवेश, उनके सम्मान में मनोरमा सुखानन्द दोनों का खड़े हो जाना।)

धनदत्त – बैठो बेटा ! कब आये ?

सुखानन्द – बस चला ही आ रहा हूँ मामाजी।

धनदत्त – विदेश से कब लौटे ? क्या अकेले ही आये हो ?

(दोनों परस्पर गले मिलकर भेंट करते हैं।)

बहुत दुर्बल प्रतीत हो रहे हो। यात्रा स्वास्थ्यानुकूल नहीं रही।

सुखानन्द – यात्रा तो सुखद रही। कदाचित् दैव को हमारा सुख नहीं भाया। वैजयन्ती नगर की सीमा के निकट मनोरमा पर अत्याचार होने का हृदय विदारक संवाद मिला। अत: माता-पिता के दर्शन किये बिना ही उल्टे पैर लौट पड़ा।

धनदत्त – तुम्हें कैसे मालूम पड़ा कि मनोरमा यहाँ है ?

सुखानन्द – अकस्मात् ही यहाँ आ पहुँचा हूँ। इसी संन्यासी की भाँति वन-कन्दराओं में खोजता हुआ आपकी काशी नगरी में भाग्य खींच लाया। पर्याप्त समय निकल चुका था, सफलता नहीं मिली। आशा की क्षीणसी रेखा भी धुंधली हो गई थी। अचानक मुझे याद आई कि कहीं आपके घर मनोरमा विश्राम न ले रही हो। बात सच निकली।

धनदत्त – होनहार प्रबल थी। भाग्य की रेखायें किसने देखीं। बेटा ! इस मनोरमा ने बहुत संकट झेले। तब कहीं इसकी मुझसे वन में भेंट हुई। वह अत्यन्त अनुनय विनय करने पर कठिनता से यहाँ आई है। लड़कियों के अपने घर चले जाने से मेरा घर सूना था, सो इसके आने से घर की शोभा बढ़ गई। जम्बू व मंगल तो इसके बिना एक क्षण भी नहीं रहते। पर ये उदास

रहा करती थी। इसके मुख को देखकर विवश हो (नयन सजल हो जाते हैं) मेरा हृदय रोता था। तुम्हारे आगमन का कुछ संवाद न मिला। झूठी सांत्वना कब तक देता।

जम्बू – दादाजी ! दादी माँ कह रही हैं कि फूफाजी का बातों से ही पेट भरेंगे क्या ? कृपया उनके स्नान की व्यवस्था करें। वे भोजन कराने की राह देख रही हैं।

धनदत्त – हाँ बेटा ! चलो उठो। इस अनायास मिले अनुपम आनन्द के कारण कर्त्तव्य का ध्यान खो बैठा। जम्बू ! जाओ बेटा ! दादी माँ से कहो फूफाजी को लेकर मैं शीघ्र ही रसोई घर में आता हूँ। (सबका जाना)

(परदा गिरता है)

आठवाँ दृश्य

संध्याकाल के समय वैजयन्ती नगर के नरेश धृतिषेण मंत्रणा-गृह में बैठे हैं। निकट ही उनके महामात्य बृद्ध यशोधर हैं। दोनों के वार्तालाप का विषय गूढ है।

धृतिषेण – महामात्य ! आपको कैसे मालूम कि श्रेष्ठि महीपाल ने अपनी पुत्रवधू को वन में निष्कासित कर दिया ?

यशोधर – महाराज ! उनका पुत्र सुखानन्द द्रव्य अर्जित करने परदेश भ्रमणार्थ गया था। तदुपरान्त सुखानन्द की माँ किसी अज्ञात कारणवश मनोरमा को चरित्रहीन समझ बैठी और उन्होंने तुरन्त उसे गृह-निकाला दे दिया।

धृतिषेण – मनोरमा ने अपनी निर्दोषिता स्पष्ट नहीं की ?

यशोधर – सुनने वाला कौन था महाराज ! नारी वह भी वधू। सास ने उसे व्यभिचारिणी जान वनवास देने में ही कुल की रक्षा समझी।

धृतिषेण – महीपालजी ने इसका प्रतिवाद नहीं किया ?

यशोधर – सुना है कि वे उस समय घर पर नहीं थे। उनकी अनुपस्थिति में ही यह सब काण्ड हुआ। ज्ञात होने पर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। पत्नी की घोर भर्त्सना की। पर अनहोनी तो हो चुकी थी। महाराज ! युग-युग से नारी ही नारी के द्वारा ही विशेष प्रताड़ित होती आई है।

धृतिषेण – मंत्रीजी ! कदाचित् यह बात सत्य भी हो सकती है।

यशोधर – यद्यपि आपका कथन यथार्थ है। तथापि गुप्तचरों के द्वारा यह बात मिथ्या प्रमाणित हुई है। मुझे जब से यह घटना मालूम हुई तबसे चित्त में शान्ति नहीं थी। आप जैसे न्यायप्रिय, वात्सल्यमयी रक्षक के राज्य में एक उच्च घराने की यह अप्रत्याशित घटना हृदय कुरेद रही थी। (कुछ उत्तेजित हो) मानस क्षुभित था। अस्तु ! पूर्ण अन्वेषण में तन्मय रहा।

धृतिषेण – महामात्य ! आपने मुझसे कभी इस सम्बन्ध में चर्चा नहीं की।

यशोधर – क्षमा करें महाराज ! आप अस्वस्थ चल रहे थे। तदर्थ मैंने आपको चिन्ता में डालना उचित नहीं समझा। इस समस्या का पूर्णतः समाधान निकल चुका है। अर्थात् मनोरमा अब वन का कष्टपूर्ण जीवन समाप्त कर अपने मामा के यहाँ काशी में है। सुखानन्द भी मनोरमा की खोज करते हुये वहीं पहुँचकर सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं।

धृतिषेण – महीपाल श्रेष्ठी को राज्य की ओर से आज्ञा दी जाय कि पुत्र और पुत्रबधू को अपने घर बुला लें।

यशोधर – मैंने उनसे चर्चा की थी। वे जाने को तत्पर थे कि श्रेष्ठी धनदत्त दोनों को अपने साथ लेकर आ गये। वे सब नगर सीमा पर रुके हैं। उन्होंने सन्देश भेजा है कि मनोरमा को अपने शील परीक्षण के बिना नगर में प्रविष्ट होना अस्वीकार है। अतः अब आप न्याय की बागडोर अपने हाथ में लें। और मनोरमा के शील के सत्यासत्य की परीक्षा कर यथार्थ तथ्य उजागर कर मनोरमा के ऊपर लगे कलंक को मिटाकर शील की रक्षा करें।

धृतिषेण – निर्णय करना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। आज विचार करूँगा। तत्पश्चात् न्याय सच्चा होगा। (परदा गिरता है)

नवमा दृश्य

शयन-कक्षा में शय्या बिछी हुई है। उसपर सुन्दर कलापूर्ण कालीन बिछा हुआ है। यत्र-तत्र सुगन्धित पुष्प कलियाँ बिखरी हुई हैं। रत्नजटित दीपाधार पर मन्द-मन्द दीपक मुस्कुरा रहा है। एक ओर सुवासित अगरबत्तियों के उठते हुए धूम्र से वायुमण्डल महक रहा है।

धृतिषेण – (स्वगत) मनोरमा के इस कलंक को कैसे मिटाया जाय, कुछ समुचित उपाय नजर नहीं आता। क्या करूँ ? यदि उसे उसकी सासु माँ के कहने मात्र से कलंकिनी घोषित करता हूँ तो शायद यह न्याय सच्चा नहीं होगा ? और शीलवती घोषित करने के लिए मेरे पास कोई सत्य साक्ष्य नहीं है। परीक्षा करने का कोई उपाय समझ में नहीं आता। कोई दैवी चमत्कार ही इसे आसान बना सकता है। इसप्रकार विचारमग्न महाराज करवट लिये हुए निद्रामग्न हो गए। रात्रि के अन्तिम प्रहर में महाराज धृतिषेण स्वप्न देखते हैं।

नेपथ्य से – राजन् ! तुम्हें अधिक व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं। कल प्रभात होते ही न्याय करने की घोषणा कर दो। हमने नगर द्वार अवरुद्ध कर दिये हैं। जो शीलवती नारी के चरण-स्पर्श से ही खुल सकेंगे। सती मनोरमा के शील परीक्षण के पश्चात् न्याय करने में तुम्हें कोई मुश्किल नहीं हागी। (थोड़ी देर बाद जागकर शय्या पर बैठ जाते हैं व चारों तरफ अवाक् हो देखते हैं कोई दिखलाई नहीं देता)

धृतिषेण – (स्वगत) सचमुच ही नगर द्वार बन्द हो गये हैं या यह स्वप्न मात्र ही है।..... किन्तु स्वप्न मिथ्या नहीं हो सकता। कारण कि स्वप्नवेत्ताओं का कथन है कि ब्रह्ममुहूर्त के स्वप्न बहुधा सत्य ही हुआ करते हैं और जो वाणी सुनाई पड़ी थी, वह अत्यन्त मृदुल, आकर्षक एवं ओजपूर्ण थी।

नेपथ्य से – महाराज ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

(कोलाहल सुनाई पड़ता है)

धृतिषेण – प्रतिहारी ! ओ प्रतिहारी !

प्रतिहारी – कहिये क्या आज्ञा है महाराज !

धृतिषेण – यह कोलाहल कैसा है ? पता लगाकर मुझे शीघ्र सूचित करो ?

प्रतिहारी – जो आज्ञा (जाता है एवं पुनः आता है) महाराज ! आपसे कुछ नागरिक मिलना चाहते हैं।

धृतिषेण – उन्हें मेरे पास भेज दो।

प्रतिहारी – जो आज्ञा (चला जाता है।)

(नागरिकों का प्रवेश)

सब मिलकर – महाराज की जय हो!

प्रथम नागरिक – महाराज ! आवागमन के सभी मार्ग अवरुद्ध हैं। प्रजा के सारे कार्य ठप्प हो गये हैं। न जाने यह किसी शत्रु की करतूत है अथवा दैवी प्रकोप ही है। महाराज ! हम सब प्रजाजन आपसे यही निवेदन करने आये हैं। कृपया शीघ्रातिशीघ्र हमारे कष्टों को दूर करें।

धृतिषेण – मेरे प्यारे स्नेही बन्धुओ ! आप निश्चिन्त हो। आपके कष्टों का निवारण थोड़े ही समय में हो जायेगा; क्योंकि हे प्रजाजनो ! "आज रात्रि में मुझे देवी स्वप्न आया है कि नगर के अवरुद्ध द्वार पतिव्रता शीलवती नारी के चरणस्पर्श मात्र से ही खुल सकेंगे।"

अस्तु ! आज सब अपने-अपने घरों की गृहलक्ष्मियों को नगरद्वार पर भेजें, ताकि वे नगर निवासियों का संकट निवारण कर अपनी निर्मल तेजोपुञ्ज धवलकीर्ति ध्वजा विश्व में फहरा सकें। – ऐसी घोषणा करवा दीजिए।

उद्‌घोषक – (डंका बजाकर उच्च स्वर में) माताओ ! बहिनो! सुनिये, सुनिये, सुनिये, श्रीमन्महाराजधिराज राज-राजेश्वर वैजयन्ती नरेश की आज्ञानुसार यह घोषणा की जाती है कि नगर द्वार बन्द होने से प्रजा संकट

ग्रस्त है। महाराज को स्वप्न द्वारा ज्ञात हुआ है कि मात्र शीलवती नारी के स्पर्श से ही वे द्वार खुल सकेंगे। अतः समस्त नारी समाज से विनती है कि वे मुख्य नगर द्वार पर आकर अपने शील के प्रताप से द्वार खोलकर प्रजा का कष्ट निवारण करें।

दशवाँ दृश्य

(नगरद्वार बन्द हैं भूपति धृतिषेण, महामात्य यशोधर व अन्य सदस्यगण बैठे हुये दिख रहे हैं। जनता-जनार्दन की भीड़ भी धीरे-धीरे मुख्य नगरद्वार की ओर आ रही हैं।)

यशोधर – महाराज की आज्ञा हो तो मैं अपनी एक बात कहूँ ?

धृतिषेण – आपको अपनी बात कहने के लिए मेरी आज्ञा की जरुरत कबसे महसूस होने लगी। आप अपना मशवरा व्यक्त करें।

यशोधर – महाराज ! जबतक नगर से अन्य शीलवती नारियाँ आती हैं, तबतक नगर सीमा पर रुकी हुई मनोरमा को भी महल के गुप्त दरवाजे से बुला लिया जाए और इसका पहला अवसर मनोरमा को ही दिया जाए, ताकि उस पर लगे कलंक की बात का भी निर्णय हो सके और नगर पर आये संकट का निवारण भी सहजता से हो सके।

धृतिषेण – महामात्य यशोधर ! मैं तो नगर पर आये इस संकट के सामने यह भूल ही गया कि आज मुझे यह भी निर्णय करना था। आपने मेरा कार्य भी बहुत आसान कर दिया। शीघ्रता करो, मनोरमा को सम्मान सहित शीघ्र लाने का प्रबन्ध करो।

मनोरमा – (आकर महाराज को अभिवादन कर कहती है –) महाराज ! मैं आपके आदेशानुसार यहाँ आ तो गई हूँ, पर क्या मैं इस कलंक को लेकर उस घर में या इस जग में सुख से जी पाऊँगी ? अतः आप मेरे शील की परीक्षा कर पहले मेरे ऊपर लगे इस कलंक को मिटाईए अन्यथा मैं इस पर्याय के साथ जीने से तो मरना अच्छा समझती हूँ।

धृतिषेण – नहीं मनोरमा ! ऐसा नहीं कहते, तुम चिन्ता मत करो। मैं सभी भ्रम के बादल छट जाने पर, निर्मल आकाश में धवल चाँदनी के प्रकाश में ही तुम्हें ससम्मान घर पहुँचाऊँगा। ऐसी व्यवस्था भी तुम्हारे पुण्योदय से यहाँ सहज ही हो गई है। नगरद्वार बन्द है तथा मुझे रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न आया है कि अब यह दरवाजा मात्र शीलवती स्त्री के स्पर्श से ही खुलेगा, अन्यथा नहीं खुलेगा। अत: अब तुम पूर्वकृत पापोदय से अपने ऊपर लगे कलंक को मिटाकर शील की प्रसिद्धि करो। मैं तुम्हें अभी बुलवाता हूँ।

(मनोरमा अपने निर्धारित स्थान पर जाकर बैठ जाती है, उसके पति सासु, ससुर, मामा आदि एवं अन्य सभासद व सम्पूर्ण जनता-जनार्दन आदि उपस्थित हैं, राजा धृतिषेण घोषणा करते हैं।)

धृतिषेण – देवियो और सज्जनो ! आप लोगों को ज्ञात ही है कि आज प्रातःकाल से ही नगरद्वार बन्द हैं, प्रजा त्रस्त है, दैनिक कार्य सम्पन्न नहीं हो पा रहे हैं। मुझे सूचना मिली है कि राजकर्मचारियों ने दरवाजों को खोलने के सभी प्रयत्न कर लिए हैं, पर उनके सभी प्रयास असफल सिद्ध हुये। आज मुझे रात्रि के अन्तिम पहर में आये स्वप्नानुसार शीलवती महिला के स्पर्श मात्र से ही यह दरवाजे खुलेंगे। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि आप में से किसी के भी द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो सकता है, क्योंकि आप सभी शीलवती महिलाएँ हैं, परन्तु सर्वप्रथम यह अवसर मनोरमा को दिया जाएगा,

क्योंकि उसके ऊपर शील भंग करने का कलंक भी लगा हुआ है और वह अभी सिद्ध नहीं हुआ है। अत: उसमें सत्यता क्या है ? यह जानने के लिए सर्वप्रथम यह अवसर उसे देना जरूरी है।

मनोरमा क्या तुम यह परीक्षा देने के लिए तैयार हो ?

मनोरमा – महाराज की जैसी आज्ञा। "हे देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान ! यदि मैंने स्वप्न में भी कभी मन-वचन-काय से परपुरुष को पिता, भाई या पुत्र के अलावा किसी अन्य दृष्टि से न देखा हो और शीलधर्म का भलीभांति पालन किया हो तो यह बन्द द्वार खुलकर मेरे शील की लाज रखे।" – ऐसा कहकर ज्यों ही मनोरमा ने फाटक खोला, त्यों ही उसके स्पर्श मात्र से ही फाटक गड़गड़ाहट के साथ खुल जाते हैं। सब हर्ष से जय जयकार कर उठते हैं, मनोरमा की जय, शीलधर्म की जय !)

धृतिषेण – प्रजाजनो ! आज देवी मनोरमा के शीलव्रत ने नारियों का मस्तक गौरव से ऊँचा कर दिया है। शीलव्रत की अचिंत्य महिमा विश्व को बतलाकर अपनी कीर्ति कौमुदी सर्वत्र फैला दी, भविष्य में भी संसार इनके गुणगान कर अपनी जिह्वा पवित्र करेगा। धन्य हो देवी मनोरमा ! धन्य हो।

सुव्रता – (अत्यन्त आह्लादित होकर मनोरमा को गले लगाती है) वधू मनोरमा ! मैंने तुम्हारे साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार किया है; जिससे तुम्हें असह्य कष्टों का सामना करना पड़ा। मुझ अभागिन की बुद्धि विवेक पर जैसे ताला पड़ गया था, जिससे मैं बहुत अधिक उद्विग्न हो निर्दय बन गई थी। दया तो मुझसे कोसों दूर भाग गई थी। मैं अपने अज्ञानजन्य घृणित कृत्य पर लज्जित हूँ। अब मैं तुमसे किस मुँह से क्षमा याचना करूँ। मेरा अपराध अत्यन्त जघन्यतम है। अपनी अदूरदर्शिता से मैंने जो यह पाप का बन्ध किया है, न जाने वह किन जन्म-जन्मान्तरों तक काट पाऊँगी।

महीपाल – सचमुच मनोरमा मेरे पीछे से तुम्हें घर से निकाला गया और इस अशोभनीय घटना का जन्म हुआ। तुम जैसी कोमलांगी को अल्पवय में कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पड़ा। इसकी कल्पना भी हृदय को प्रकम्पित कर देती है। इन आकस्मिक विपत्तियों के श्रवणमात्र

से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। धन्य है तुम्हारी धीरता! क्षमायाचना करने में भी मैं लज्जित हूँ।

मनोरमा – माताजी ! पिताजी !! ऐसा न कहिये, **मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल ही मुझे मिला है। प्राणी जैसे कार्य करता है तदनुसार उसे फल प्राप्त होता है। जैसी करनी वैसी भरनी। नारी का आभूषण शील ही है। इसी से उसकी शोभा है।** पूर्वकृत पुण्योदय से एवं भली होनहार से निस्सहाय अवस्था में भी मुझमें अपने शील की रक्षा करने का बल जाग्रत हुआ। आप लोगों का कोई दोष नहीं। आप मेरे लिये जैसे पहले पूज्य थे वैसे आज भी आदरास्पद हैं। आप सबका शुभ आशीर्वाद ही मेरे जीवन की सफलता है।

इसके बाद राजा ने मंत्री को आदेश दिया कि पता लगाओ कि ''इस घटना का सूत्रपात कहाँ से हुआ।''

मंत्री को गुप्तचरों के द्वारा इस पूरे घटनाक्रम का अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि किसप्रकार राजकुमार ने अपने विषय सेवन हेतु अपनी दूती के द्वारा यह सब कराया। सत्य का यथार्थ ज्ञान होने पर राजा धृतिषेण ने राजकुमार और दूती दोनों को इस अपराध के लिए राज्य से निकाल कर निष्पक्ष और सत्य के पक्ष में न्याय किया। – ऐसे न्यायप्रिय राजा के होते हुए भी पापोदय आने पर निष्कंलक को भी कंलक का दुःख भोगना पड़ता है। ***''यही तो है विधि का विधान और योग्यता का निधान''***

समय की नियति

पात्रानुक्रमणिका

महाराजा दशरथ	अयोध्या के शासक
कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, सुप्रभा	महाराजा दशरथ की पत्नियाँ
रामचंद्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न	महाराजा दशरथ के पुत्र
सीता	रामचंद्र की पत्नी
मंथरा एवं मालिन	दासी

दृश्य-प्रथम

स्थान – अयोध्यानगरी के राजमहल का एक कक्ष

समय – प्रातःकाल प्रथम प्रहर

(महारानी कैकेयी श्रृंगार में व्यस्त हैं। इतने में वृद्धा मालिन आती है। वह माला की डलिया लेकर आई है। कैकेयी प्रसन्न मुद्रा में है)

मालिन – जय हो महारानीजी की।

कैकेयी – आ गईं मालिन माँ ! बस तुम्हारी ही राह देख रही थी।

मालिन – बस स्नान कर सीधी ही चली आ रही हूँ। वह आपकी वधू है न ! बड़ी सुघड़ बनती है।

कैकेयी – (हँसकर) सुघड़ तो है ही जुही ! जैसा उसका नाम है, वैसी है भी। सो हुआ क्या ?

मालिन – कहने लगी आज के माला गजरे वेणी सब मैं ही गूँथूँगी। महारानी जी ! मुझे तो हाथ भी नहीं लगाने दिया। कहती थी, तुमसे बिगड़ जायेंगे। अब आप जानो महारानी जी ! मैं भला वृद्धा इन तितली सी वधुओं के श्रृंगार क्या जानूँ।

कैकेयी – तो जुही ने गूँथे हैं। (बेणी आदि उठा-उठा कर देखती हैं) ओह ! बड़े सुन्दर हैं। उसकी सुरुचि प्रशंसनीय है मालिन माँ ! तुम्हारे घर की शोभा है जुही। बोलती है तो फूल झरते हैं।

मालिन – सब आपका पुन्नप्रताप है महारानीजी ! जुही ने रातभर जागकर डलिया **सजाई है।** तड़के ही उसने मुझे जगा दिया।

कैकेयी – (गले का हार उतार कर देते हुये) लो ये जुही को दे देना। आज राम का **राज्याभिषेक** है न ! जुही को भी जरूर लाना !

मालिन – अवश्य लाऊँगी। वह तो कल से ही उतावली है।.....जुग-जुग जिओ **महारानी जी** ! 'दूधो नहाओ, पूतो फलो'। अच्छा, आज्ञा महारानी जी ! चलूँ न ?

कैकेयी – जाओ। (कैकेयी को सुधि आती है) अरे ! तुम मुद्रिका ले लो। मैं तो **भूल ही गई** थी।

मालिन – (सकुचाते हुये लेकर) जय हो महारानी जी की ! (मालिन का प्रस्थान, **दूसरी ओर से** दासी मंथरा का प्रवेश)

मंथरा – आज बहुत प्रसन्न दिख रही हैं महारानी जी !

कैकेयी – प्रसन्नता का विषय ही है मंथरा ! राम का राज्याभिषेक होगा। मेरा राम राजा **होगा और** सीता राजरानी।

मंथरा – और आप ?

कैकेयी – (गर्व पूर्वक) मैं राजमाता।

मंथरा – आप भूलती हैं मँझली रानी ! राजमाता के पद पर आसीन होंगी बड़ी रानी **कौशल्या जी** !

कैकेयी – पागल ! जीजी और मुझमें कोई अन्तर है क्या ? हम सब एक ही तो हैं।

मंथरा – अन्तर स्पष्ट है, भले ही मुझे पागल मानो।

कैकेयी – तू कहना क्या चाह रही है मंथरा ! क्या ऐसा हो सकता है कि मेरा राम राज्य **पाकर मुझे** भुला देगा ? जीजी की दृष्टि में 'मैं' क्या तिरस्कृत हो जाऊँगी ?

मंथरा – पर आप दुनिया की दृष्टि में तो हो सकती हैं।

कैकेयी – दुनियाँ से हमें क्या प्रयोजन ? दुनियाँ के मानने न मानने पर हमारे अपनत्व में अन्तर ही क्या आता है ?

मंथरा – सो तुम जानो मंझली रानी ! मुझे क्या ? मैं तो तुम्हारे भले की कह रही थी। तुम्हारा सरल हृदय इन छलपूर्ण बातों को नहीं जानता।

(मंथरा का प्रस्थान। कैकेयी चिन्तित हो उठती है। फिर विचार मग्न हो अतीत में खो जाती है। उसे राम के बचपन की बातें याद आने लगती है। उसके कानों में वर्षों पूर्व के शब्द गूँजने लगते हैं।)

नेपथ्य से वार्तालाप

(राम रो रहा है। कौशल्या व्यग्र हो शिशु राम को लेकर आती है।)

कौशल्या – कैकेयी ! (राम रो रहा है) कैकेयी ! कैकेयी........

कैकेयी – (हँसकर) क्या है जीजी ! मेरे बेटे को क्यों रुला रही हैं ?

कौशल्या – ओह ! मैं रुला रही हूँ ? क्या कहूँ, तुम्हारा बेटा मुझे सोने नहीं देता। देखो मेरी आँखे मुँदी जाती हैं और ये है कि तुम्हारे कक्ष की ओर ही रो-रोकर संकेत कर रहा है।

कैकेयी – (राम को गोद में लेकर) लो जीजी ! चुप तो हो गया हमारा राम।

कौशल्या – बड़ा सीधा है न ! कौन जाने रातभर तुम्हारे ही स्वप्न देखा करता है। तुम्हीं तो हो उसकी सगी माँ ! देखा, कैसा विद्युत वेग से उछल कर तुम्हारे अंक में जा पहुँचा। जब मचलता है तो व्याकुल हो तुम्हारे निकट ही दौड़ी आती हूँ। तुम अवश्य कोई रहस्यमयी नारी हो।

कैकेयी – (हँसकर) रहस्यमयी ! (जोर-जोर से हँस पड़ती हैं। राम से) सुना राम। माँ क्या कह रही हैं ? (शिशु राम भी हँस पड़ता है)

कौशल्या – सच तो कह रही हूँ। कोई कहेगा कि ये अभी रो रहा था।

कैकेयी – जाओ जीजी ! तुम शयन करो। राम को मैं सुला लूँगी। (कौशल्या का प्रस्थान) राम ! देखो, पूर्णिमा का चाँद कैसा हँस रहा है। तुम

भी ऐसे ही हँसा करो। (राम खिल-खिला पड़ता है। कैकेयी उसका मुख चूम लेती है।) **(नेपथ्य वार्तालाप समाप्त)**

(कैकेयी का ध्यान सामने बैठे पक्षी की ओर जाता है।)

कैकेयी – (पक्षी को देखकर, स्वगत) ओह ! कितने श्रम से ये चिड़िया कहाँ-कहाँ भटककर शिशु को चुगाने के लिये दाना लाती है। शिशु भी माँ को आता देखकर एक डग फुद्दक कर आतुर हो अपना छोटा सा मुँह खोल देता है और माँ चोंच में लाये कण को स्नेह पूर्वक उसके मुँह में रख देती है। इसी भाँति मैं भी अपने राम को अपने हाथों भोजन कराया करती थी।

(भरत का प्रवेश)

भरत – किसको भोजन कराती थी माँ ?

कैकेयी – (हर्ष विभोर हो) राम के राजतिलक पर मुझे उसके शैशव की सुधि हो आई भरत !........तुम कहाँ थे ? स्नानादि से निवृत्त नहीं हुये ?

भरत – अभी हुआ जाता हूँ माँ ! बस मैं बिल्कुल ही निवृत हो जाना चाहता हूँ।

कैकेयी – इसका क्या मतलब है वत्स !

भरत – पिताश्री के पथ का मैं भी अनुसरण करूँगा।

कैकेयी – (भयमिश्रित आश्चर्य से) क्या कह रहे हो भरत !

भरत – सत्य कह रहा हूँ माँ ! पिताश्री वानप्रस्थ कर रहे हैं। मुझे भी वही मार्ग उचित लगा है।

कैकेयी – वत्स ! उनका भी उस पथ पर चलना उचित नहीं कहा जा सकता। अभी उनकी वृद्धावस्था का प्रारम्भ ही तो है। अपेक्षाकृत उचित भी मान लें। पर तुम्हारा तो सर्वथा अनुचित है।

भरत – सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक है माँ ! मुझे इसमें कोई बाधा नहीं दिखती।

कैकेयी – आयुष्मन् ! तुम बालक हो। (दुखित हो) विचारो तो सही;

पति-पुत्र दोनों के वियोग की व्यथा क्या मैं एक साथ सहन कर सकूँगी। नहीं नहीं, मुझमें यह क्षमता नहीं है।

भरत – माँ! तुमने मुझमें अदम्य साहस भरा है और आज तुम्हीं........

कैकेयी – (बीच में ही) हाँ वत्स! सबको प्रकाशित करने वाली दीपिका के तल में गहन अंधकार व्याप्त रहता है। तुम इतनी कठोरता से मेरे साहस की परीक्षा मत करो। माँ की ममता को चुनौती मत दो मेरे लाल!

भरत – माँ! चुनौती क्या तुम्हें तुम्हारा पुत्र ही देगा? नहीं यह असंभव है माँ! चंदक्षणों पूर्व कितनी प्रसन्न थी और अभी-अभी कितनी व्यग्र हो उठीं।

कैकेयी – तूने बात ही ऐसी कह दी है भरत!

भरत – तुम क्या सबको चिरस्थाई मान रही हो? हर्ष-विषाद कुछ भी स्थिर नहीं रह पाया है माँ! दिन सदा हर्ष के नहीं रहते। पुष्प प्रातःखिलता है, संध्या को मुरझा कर गिर जाता है। पूर्णिमा की धवल चाँदनी प्रतिपदा से ही ढलने लगती है। दोपहर का प्रचण्ड मार्त्तण्ड भी सांझ पड़े निष्प्रभ हो प्रतीची (पश्चिम) में मुँह छिपा लेता है।

कैकेयी – वत्स! आज तुम यह कौन सी भाषा बोल रहे हो?

भरत – माँ! आज मैं नहीं, सृष्टि के प्रारम्भ से ही क्षण-क्षण कण-कण यही बोल रहा है। हम हैं कि उनकी मौन वाणी सुन नहीं पाते या सुनकर अनसुनी कर देते हैं। देखकर भी अनदेखे बन जाते हैं। सत्य की अनुभूति न हो सके, अतः हम बाह्य-प्रवृत्तियों में अपने को खो देते हैं।

कैकेयी – तुम्हारी बातें रहस्यमयी हैं वत्स! यों वस्तुतः यही तथ्य सत्य है, पर विरक्ति की बातें इस अवसर पर उचित नहीं लगती भरत! अपने समय पर ही कार्य की शोभा है। सबका समय निर्धारित है।

भरत – माँ! बताओ क्या मृत्यु का समय भी निर्धारित है? क्या हमें विश्वास है कि निकली हुई श्वांस लौटकर नियम से आएगी ही?

कैकेयी – आयुष्मन्! तुम कैसी बातें कर रहे हो? आज की मंगल बेला में क्या यह शुभ है?

भरत – इस शुभ-अशुभ के व्यापार में ही तो हम उलझे हैं माँ ! शुद्ध की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। मृण्मयी काया के खेल में हम लीन हैं और चिन्मयी के अनन्त रहस्यों की ओर से हम मुख फेर बैठे हैं।

कैकेयी – राम का राज्याभिषेक क्या तुम्हें इष्ट नहीं है वत्स !

भरत – है क्यों नहीं। ज्येष्ठ बन्धु राम उसके उत्तराधिकारी हैं। उनका तिलक होना ही चाहिये। यह पुण्य है।

कैकेयी – तुम्हारी अभिलाषा है वत्स ! राज्य करने की ?

भरत – (दृढ़ता से) नहीं, कदापि नहीं; मेरा तो मार्ग ही दूसरा है माँ ! यदि घर में भी रहता तो भी ऐसा अनर्थ नहीं कर सकता था। दूसरे का ग्रास छीन कर खाना अन्याय है माँ !

कैकेयी – दूसरे कहाँ पुत्र ! राम भी तो अपने ही हैं। तुम दोनों में अन्तर ही क्या है ?

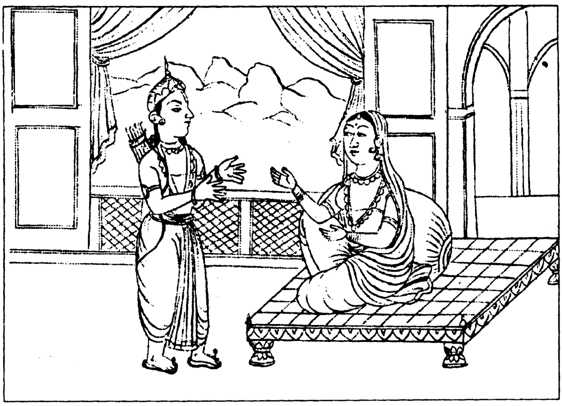

भरत – अन्तर, बहुत बड़ा है माँ! वे विशेष पुण्यवान है, हम तीनों भाइयों से ज्येष्ठ हैं। आयु के साथ गुणों में भी श्रेष्ठ हैं। मैं तो केवल परिवर्तनशील नश्वर मिथ्या संसार की ही बात कर रहा हूँ। ये पुण्यमयी वैभव क्या सदा स्थिर रहने वाला है ?...मैं भूल ही गया, देवपूजन का समय हो रहा है, मैं भी स्नान से निवृत्त हो लूँ माँ !

(भरत का प्रस्थान, कैकेयी विचारों में पुनः खो जाती है।)

कैकेयी – (स्वगत) आज भरत को क्या हो गया ? मेरा लाल इतना उद्विग्न कभी नहीं हुआ। विचित्र है उसकी वृत्ति ! भला इस आयु में कौन विरक्ति की बात करता है।.......अवश्य कहीं काँटा है। मैं अपने लाल के

मन का शूल निकालकर ही चैन लूँगी। एक पिता के चारों पुत्र होने के नाते राज्य पर सबका समान अधिकार है; परन्तु भरत ने मेरे अनुमान के अत्यन्त विपरीत ही उत्तर दिया।..........आह ! पुत्र की आकांक्षा, मैं माँ होकर भी नहीं जान सकी। मुझसे वह कह तो सकता था। कदाचित् संकोचवश उसकी वाणी स्वयं प्रतिबन्धित हो गई हो। ....भरत राम से हीन है ?........ नहीं वह भी सर्वगुण सम्पन्न है।.........पर.....न्यायोचित राम का अधिकार है। भरत को घर में रोक रखने का एक मात्र उपाय उसे राज्यारूढ़ कर देना है। अन्यथा वह गृह त्याग कर ही देगा। असमय में ही मुझसे उसकी विरक्ति नहीं देखी जाती। वन पुष्प की भाँति उसके उपभोग से दुनिया वंचित रह जाए। यह कैसे हो सकता है ? मैं अपने लाल को वनवासी नहीं देख सकती। मैं उसे कैसे भी रोकूँगी। चाहे मुझे अपनी मर्यादाएँ ही क्यों न तोड़नी पड़ें, अपने पवित्र वात्सल्य का विसर्जन करना पड़े। पुत्र की ममता के समक्ष अन्य सब नगण्य है। खिला हुआ कमल असमय ही मुरझा जाये। यह कैसे हो सकता है ?

(महाराज दशरथ का प्रवेश)

दशरथ – शुभे !

कैकेयी – (उदास मन) आर्य पुत्र ! मैं आपकी ही राह जोह रही थी। विराजें देव !

दशरथ – (पीठिका पर बैठ कर) इसीलिये हम आ गये देवी ! खिन्न मन क्यों हो ? स्वस्थ तो हो न ?

कैकेयी – (मौन है)

दशरथ – तुम्हारा मौन ! यह गम्भीरता असह्य हो रही है। भविष्य की आशंका से हम शंकित हो उठे हैं। कहो सब कुशल तो है ?

कैकेयी – कैसे कहूँ देव ! मुझे संशय है कि मेरा अभीष्ट सुनने की भी आप में पर्याप्त क्षमता है...?

दशरथ – ओह ! तुम हमारे पौरुष को चुनौती दे रही हो ? हमें स्वीकार है शुभे। हम अवश्य सुनना चाहेंगे। तुम कह सकती हो।

कैकेयी – कहूँ कैसे ? शंका निर्मूल भी तो नहीं है।

दशरथ – कहने के पश्चात् ही शंका निर्मूल हो सकेगी देवी ! हम सुनने के लिये आतुर हैं। तुम निःसंकोच कहो।

कैकेयी – विवाह के पश्चात् मेरी रथचातुरी से प्रसन्न हो आपने क्या कहा था, स्मरण है ?

दशरथ – (हँसकर) अच्छी तरह प्रिये ! हमने तुम्हारी इच्छित कामना पूर्ण करने हेतु वचन दिया था।

कैकेयी – हे राजन् ! अब समय आ चुका है।

दशरथ – शुभ है प्रिये ! तुम अपने अभीष्ट से हमें परिचित कराओ। राम के राज्याभिषेक के साथ ही हम तुम्हारे ऋण से भी उऋण हो अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जायेंगे। तुम्हारा विचार अनुकूल है।

कैकेयी – आप वचन निर्वाह कर सकेंगे ?

दशरथ – तुम इतनी शंकास्पद क्यों हो रही हो ? वचन निर्वाहन न कर मानवों के पारस्परिक विश्वास को समाप्त करने में क्या हम ही अग्रणी बनेंगे? नहीं नहीं यह असंभव है। हम ऐसा जघन्यतम घृणित अपराध कर मानवता को आघात नहीं देंगे।

कैकेयी – तब वचन दें कि राज्य का उत्तराधिकारी भरत को घोषित किया जाय। आज भरत का अभिषेक हो।

दशरथ – (अवाक् हो) यह हम क्या सुन रहे है कैकेयी ! क्या सचमुच यह तुम्हीं बोल रही हो ?

कैकेयी – (अत्यधिक शान्ति से) मैंने देव से प्रथम ही निवेदन किया था। मेरी शंका प्रमाणित हुई।

दशरथ – केवल हम अपनी क्षमता के प्रदर्शन हेतु कर्त्तव्य से गिरकर दूसरों का अधिकार नष्ट कर दें। ये कैसा न्याय ?

कैकेयी – कर्त्तव्य और न्याय की परिभाषा हमीं मानवों द्वारा निर्मित है।

दशरथ – तो क्या हमीं नियम गढ़े और हमीं तोड़े ? सुचारू रूप से जीवन जीने के लिये प्रबुद्ध मानवों ने व्यावहारिकता निर्वाह हेतु यह नियम बनाये हैं। उन पर चलना हमारा कर्त्तव्य है। न चलने पर मानव समाज क्षुब्ध होगा, अराजकता फैलेगी।

कैकेयी – तब क्या समस्त मानव समाज का दायित्व आप पर निर्भर है ? नहीं, हमें जो प्रिय हो वही करणीय है।

दशरथ – ऐसा नहीं है कैकेयी ! कि जो प्रिय लगे वही करो, किन्तु कार्य में विवेक की जागृति अनिवार्य है। बिना विवेक के मात्र वासना से प्रेरित जीवन घृणित है। श्रेय सहित प्रेय को ही हम अंगीकार कर सकते हैं।

कैकेयी – तब मैं यही समझूँ कि आप वचनबद्ध नहीं है ?

दशरथ – (समझाते हुये) सुनो तो प्रिये ! आज तुम्हें क्या हो गया है ? तुम्हीं ने राम के राज्याभिषेक की सम्मति दी और तुम्हीं आज विरुद्ध हो गई ?

कैकेयी – हाँ देव ! ऐसा ही समझें।

दशरथ – देवी ! जन साधारण से ऊपर उठकर राजा का स्थान है। राजा प्रजा का प्रतिपालक होता है। यदि वही न्यायोचित मार्ग को छोड़ लोकनिंद्य मार्ग का अवलंबन ले तो क्या वह अनेकानेक दोषों का भागी नहीं होगा ?

कैकेयी – वाग्जाल में कैकेयी नहीं आ सकती नाथ !

दशरथ – सत्य तुम्हें वाग्जाल-सा दिखता है। आश्चर्य है !

कैकेयी – आप स्पष्टतः अस्वीकार कर दें। मैं तर्क नहीं करना चाहूँगी।

दशरथ – क्या हम इसका कारण जान सकते हैं देवी ! तुम्हें राम और भरत में विभेद क्यों कर हुआ ? तुम्हें तो राम बड़ा प्यारा लगता था।

कैकेयी – प्यारा तो मुझे अभी भी लगता है आर्यपुत्र ! उन दोनों में मुझे भेद नहीं, भेद तो आप कर रहे हैं।

दशरथ – (साश्चर्य) हम !

कैकेयी – (दृढ़तापूर्वक) हाँ ! आप कर रहे हैं। यदि आप भेद नहीं समझते तो इतना सोच-विचार क्यों ?

दशरथ – यह कर्त्तव्य की कसौटी है देवी ! इसमें भेद को स्थान कहाँ ? हाँ, यदि तुम्हारे वचनानुसार भरत को राज्य देते हैं तो वह अनुचित होगा। हम लोक निंदा के पात्र होंगे।

कैकेयी – इस निंदा में भी मुझे सुख है नाथ ! मेरा यह प्रथम और अन्तिम वचन था और मैं यह भी जानती हूँ कि सभी व्यक्तियों की अभिलाषा पूरी नहीं होती।

दशरथ – तुम अपनी माँग का दृढ़ निश्चय कर चुकी हो ?

कैकेयी – परिवर्तन का कोई कारण नहीं।

दशरथ – (निराशा से भर कर) समझ गये। जिस गृह में घृणा का विष प्रवेश कर जाता है; वहाँ आनन्द के फूल नहीं खिल सकते। एक बार पुनः शान्ति से विचार करो। क्या यह कार्य तुम्हारी प्रशंसा में चार चाँद लगा देगा ?

कैकेयी – राजन् ! माँ की ममता प्रशंसा की भूखी नहीं है।

दशरथ – तुम राम की भी माँ हो कैकेयी ! तुम्हारी ही गोद में वह फला-फूला है। राम ने तुम्हें ही अपनी माँ समझा है।

कैकेयी – अभी तक मैं भी यह समझती रही हूँ, पर समझने भर से तृप्ति नहीं होती महाराज ! यथार्थता को कल्पना की ओट नहीं किया जा सकता।

दशरथ – ऐसी तो तुम कभी नहीं थी कैकेयी ! तुममें अनिंद्य सौन्दर्य एवं गुणों का अद्भुत समन्वय देखकर विद्वज्जन हर्षित होते हैं। राजगुरु तुम्हारी प्रशंसा करते नहीं थकते। देवी कौशल्या तुम्हारी विद्वता का लोहा मानती हैं। यह क्या तुम्हारा छद्मवेश था कैकेयी ! क्या वह सौन्दर्य अत्यन्त लुभावने विषैले इन्द्रायण फल की भाँति था अथवा जलता हुआ अंगार है; जिसके ताप में समस्त परिवार संतप्त हो झुलस जाएगा।

कैकेयी – राजन् ! आप कहने के लिये स्वतन्त्र हैं। कदाचित् आपके अहं

पर आघात पहुँचा है। आहत व्यक्ति के उलाहने क्षम्य हैं। आप निश्चित समझें कि मैं जिस पथ पर अग्रसर हो चुकी हूँ, उससे अब लौटना असंभव है।

दशरथ – छिः हमें ज्ञात नहीं था कि तुम्हारे सौन्दर्य, तुम्हारी वीरता में ईर्ष्या का क्षुद्र कीट भी पनप रहा है। जो अब वंशबेल को कुतरने के लिये प्रस्तुत है। अभी तक तुम्हारा प्रेम मात्र प्रवंचना थी। विमाता का सच्चा रूप तो अब निखरा है।

कैकेयी – मैं जानना चाहती हूँ कि क्या भरत वंशबेल से भिन्न है ?

दशरथ – भिन्न नहीं है, पर तुम्हारा कार्य अवश्य अविवेक पूर्ण है।

(कौशल्या का प्रवेश)

कौशल्या – कैकेयी ! मैं कब से तुम्हें खोज रही हूँ। चलो शीघ्रता करो। पूजन का समय निकला जा रहा है। राम आदि सभी आते होंगे। (कैकेयी को रूठा देखकर) क्या बात है भगिनी ! स्वस्थ तो हो ?........ मौन क्यों हो ? (घबराकर) आर्य पुत्र ! आप ही बतायें न ! (दशरथ की आँखों से आँसू टपक पड़ते हैं।) इस मंगल बेला में आँसू ! कैकेयी ! तुम्हीं कहो...... क्या राम का अभिषेक आँसुओं से होगा ?

दशरथ – (गहरी सांस लेकर) राम का अभिषेक नहीं होगा।

कौशल्या – (अप्रतिभ हो) क्यों ?

दशरथ – (व्यंग से) तुम्हारी प्यारी भगिनी कैकेयी का आदेश है।

कौशल्या – (आश्वस्त हो) तब निर्णय समझ बूझ कर ही हुआ होगा। (कैकेयी से अत्यन्त स्नेह पूर्वक) अनायास ऐसा क्या हो गया भगिनी ! मुझे न बताओगी ? तुम जानती हो मैं तुम्हारी तरह दूरदर्शी नहीं हूँ। तुम्हारी सूक्ष्म प्रखर बुद्धि गहराई तक जाकर अन्वेषण करती है।

दशरथ – (व्यंगात्मक स्वर में) बुद्धि की प्रखरता ने ही तो नव अनुसंधान किया है। अभिषेक राम का नहीं भरत का होगा। अब सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र के होते हुये भी इच्छित पुत्र ही उत्तराधिकारी माना जाएगा। सुन रही हो न कौशल्या !

कौशल्या – (अशान्त हो परन्तु तुरन्त सावधान हो) सुन रही हूँ।..... क्या यह सत्य है भगिनी !......सहसा तुम्हें अपने प्यारे राम से विरक्ति कैसे हो गई ? (चंद क्षण पश्चात् मन में उठते हुये वेग को शमन कर सहज भाव से) आर्यपुत्र ! उठें, यह श्मशान सी नीरव शान्ति मैं सहन नहीं कर पा रही। भरत का ही अभिषेक होगा। जैसा राम वैसा भरत। उठो मेरी भगिनी ! उठो ! राज्याभिषेक का मंगल मुहूर्त निकलने न पाये।

(रामचंद्र व लक्ष्मण का आगमन)

लक्ष्मण – (प्रवेश करते ही) लो यहाँ बड़ी माँ मंझली माँ ऐसे विश्राम कर रही हैं; जैसे सब कार्य समाप्त हो गया हो।

रामचंद्र – मँझली माँ ! आशीर्वाद लेने हम सब आ गये।

दशरथ – (विलख कर करुण स्वर से) तुम्हारी मँझली माँ के भण्डार में आशीर्वाद चुक चुका है राम ! अब वे केवल अभिशाप ही दे सकेंगी।

कौशल्या – छिः कैसी बातें कर रहे हैं आप आर्यपुत्र ! ऐसा अनर्थ कभी हुआ है ? कैकेयी पर यह दोषारोपण उचित नहीं है।

रामचंद्र – क्या बात है माँ ! यहाँ सर्वत्र विषाद ही विषाद दिख रहा है। तात् ! आपकी आँखें सजल क्यों हैं ? कौन सा कष्ट आ पड़ा है ?

दशरथ – क्या कहें राम ! कौन जाने दुर्भाग्य कहाँ बैठा इठला रहा था।

कौशल्या – वीरता कभी जलधार नहीं बहाती आर्यपुत्र ! अनुकूलता-प्रतिकूलता उसके धैर्य में बाधा नहीं बन सकती।

दशरथ – यह क्यों भूल जाती हो देवी कि हम भी एक मानव हैं। हमारा भी छोटा सा हृदय है। उसमें कहीं ममता भी दुबकी बैठी है।

रामचंद्र – माँ ! चर्चा कुछ भी समझ में नहीं आ रही। तुम्हीं बताओ ! नहीं नहीं मँझली माँ से सुनूँगा, वे अच्छी तरह बतला सकेंगी।

कौशल्या – बात कुछ नहीं है आयुष्मन् ! राज्याभिषेक भरत का होगा।

लक्ष्मण – (क्रोधित हो) क्यों होगा भरत का ?

रामचंद्र – (शान्तिपूर्वक) लक्ष्मण ! शान्तिपूर्वक बात करो। यह रण क्षेत्र थोड़े ही है।

लक्ष्मण – मैं पूछता हूँ भरत का अभिषेक क्यों होगा, तुम्हारा क्यों नहीं?

रामचंद्र – यही प्रश्न मेरा भी है बंधु ! राम का ही क्यों ? भरत का क्यों नहीं हो सकता ? वह भी हमारा भ्रात है। फिर ये विभिन्नता क्यों ?

लक्ष्मण – आप ज्येष्ठ हैं और ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता है।

रामचंद्र – आयु में ज्येष्ठता कोई बाधा नहीं है लक्ष्मण ! भरत भी सर्वगुण सम्पन्न है। हम परस्पर प्रतिस्पर्धी नहीं है। अनूठा और अपूर्व है हमारा प्रेम।

लक्ष्मण – बंधु ! तुमने सहज सरल हो जो स्वीकार कर लिया है, क्या प्रजा भी उसे मान्यता देगी ?

रामचंद्र – उसे भी मानना होगा। भरत राज्य करेंगें और राम चौदह वर्ष के लिये वनवास ग्रहण करने का प्रण करता है। 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी'। **(सब स्तम्भित हो जाते हैं)**

कैकेयी – (सहसा मौन तोड़कर) यह कैसा प्रण मेरे लाल ! मैंने तो केवल भरत को राजा बनाने की अभिलाषा प्रकट की है, तुम्हें वन भेजने की नहीं। यह क्रूरता मैं स्वपन में भी नहीं विचार सकूँगी। तुम वन क्यों जाओगे ? आह ! यह मैंने कैसा प्रण कर डाला। (दुखित हो) तुम्ही राज्य करो राम !

रामचंद्र – मँझली माँ ! तुम ऐसी विकल क्यों हो रही हो ?

लक्ष्मण – (व्यंग के स्वर में) मँझली माँ ने क्रूरता का नाटक खेला है बंधुवर !

रामचंद्र – (डाँटते हुये) लक्ष्मण ! तुम बोलना सीखो प्रिय बंधु ! दुर्लभतम अपनी जिह्वा का इतना दुरुपयोग नहीं करते।

दशरथ – भले ही भरत को राज्य दे दो, पर तुम वन मत जाओ राम ! क्या अयोध्या में तुम्हें रहने का भी अधिकार नहीं ?

रामचंद्र – ऐसी बात नहीं है तात् ! मैं भरत के साधु-स्वभाव से भलीभाँति

परिचित हूँ। हो सकता है मेरे यहाँ रहने पर भरत राज्य करने में अपनी असमर्थता बतलाकर मुझसे बार-बार अनुरोध करे अथवा यह भी असंभव नहीं कि प्रजा भरत का अनुशासन मानना अस्वीकार कर दे। प्रत्येक अवस्था में मेरा यहाँ न रहना ही भरत और मेरे दोनों के हित में है।

कौशल्या – यह कैसा निर्णय है राम !

रामचंद्र – माँ ! इस परिस्थिति में यही उचित है।

कैकेयी – नहीं ! इस परिस्थिति में आमूलचूल परिवर्तन अत्यावश्यक है। राम का ही राज्याभिषेक होगा। मैं अपने पूर्वकथित वचनों का स्वयं खण्डन करती हूँ।

लक्ष्मण – विचार शुभ और सुखद हैं। मँझली माँ को समय रहते सुबुद्धि आ गई।

रामचंद्र – लक्ष्मण ! तुम किसी विषय का सर्वांग निरीक्षण करने के पूर्व शीघ्र ही निर्णय ले लेते हो। यह उचित नहीं। अधिकांशतः ऐसे निर्णय दोषकारक होते हैं।

लक्ष्मण – बंधु ! तुम जैसी धीरता मैं कहाँ से लाऊँ ? तुम न जाने किस साँचे में ढले हो।

रामचंद्र – (कैकेयी से) माँ ! मुख से जो वचन एक बार निःसृत हो चुके हैं, वे अमिट हैं, खण्डित नहीं हो सकते। यही नियति का अटल विधान था। वह प्राणियों से नित्य ही क्रीड़ा किया करती है।

लक्ष्मण – (आँखें फाड़कर) तुम क्या अभी भी अपने निश्चय पर दृढ़ हो?

रामचंद्र – (हँसते हुये) हट जाऊँ ?

लक्ष्मण – धन्य है बंधु ! तुम्हारे चरणों की धूल भी बन सका तो अपना सौभाग्य समझूँगा। तुम्हारी समदृष्टि को क्या कहूँ। राज्याभिषेक होना था तब हर्ष से पुलकित नहीं हुये। वनवास का निश्चय किया तब भी मुख पर विषाद की सूक्ष्म रेखा भी नहीं आई।

रामचंद्र – सत्ता की चमक-दमक, यश का गर्व, वैभव सब क्षणिक हैं; अवश्यमेव विनाश को प्राप्त होंगे। उनमें हर्ष कैसा ? किन्तु आत्मवैभव, स्वानुभूति अपनी है और अखण्ड अविनाशी है। जो किसी भी क्षण, किसी भी स्थान में हमसे विलग नहीं हो सकती।

लक्ष्मण – *तुम्हारी विचारधारा अति विलक्षण है बंधु ! हम लोग तो अभावों से भरे हुये हैं।*

रामचंद्र – प्रत्येक प्राणी में सद्भाव होते हुये भी वह अपने विभावों के कारण वर्तमान में अभाव का ही अनुभव करता है। और कृत्रिम अभाव को कृत्रिम वस्तुओं के संग्रह से भरना चाहता है। जो न वह कभी भर पाता है न ही उनसे तृप्ति होती है।

लक्ष्मण – अति उत्कृष्ट स्तर की बातें हैं भ्रात ! (भरत का प्रवेश, उन्हें देखते ही) साधुवाद भरत ! अयोध्या का राज्य तुम्हें शुभ हो। हमारी अनेकानेक मंगलमय शुभकामनायें स्वीकार करो।

भरत – बंधु ! क्या आनन्द के बाहुल्य में भरत और ज्येष्ठ भ्राता के अन्तर का भी तुम्हें विस्मरण हो गया ?

लक्ष्मण – (रुक्षता से) यह तुम जानो।

कैकेयी – भरत क्या जाने लक्ष्मण ! यह तो मेरी कुत्सित योजना है। किंचित् भी आभास नहीं है। पता नहीं यह कौन से जन्म की ईर्ष्या अपना विषैला दंश दे गई कि जिसकी ऐंठन में विवेक भी पलायन कर गया।

भरत – (उत्सुकतापूर्वक) वार्त्ता का विषय समझ में नहीं आ रहा। सब की बातें विचित्र सी लग रही हैं।

लक्ष्मण – तो क्या तुम्हारी सम्मति नहीं थी भैया भरत !

भरत – किसमें ?

दशरथ – भरत ! तुम्हारी माँ को राम का राज्याभिषेक रुचिकर नहीं लगा। अस्तु ! तुम राज्य के उत्तराधिकारी बनोगे।

भरत – (विषाद युक्तमुद्रा में) मैं ! पूज्य जनों के रहते यह गुरुतर भार मुझसे न सम्हेंलेगा। मैं निर्भार रहूँ, इसमें आपको आपत्ति क्या है माँ ?

कैकेयी – दुरुह भूल हो गई वत्स ! जो जन्म-जन्मान्तरों तक नहीं मिट सकती। मैं समझती थी भरत हर्षित होगा, पर मेरी आशा के विपरीत हुआ।

भरत – तो माँ ! अपने भरत को अब तक नहीं पहिचान पाईं। ऐसा कर तुमने कौन से जन्म का प्रतिशोध लिया है माँ !

रामचंद्र – विचार कर बोलो भरत ! पागल न बनो। पुरुष होकर कायरों की भाँति विफर नहीं हुआ करते।

भरत – पुरुषत्व के आवरण में क्या अच्छा बुरा सब छिपा लिया जाता है ? यह मिथ्या है, पाखण्ड है। अनुचित आदेशों को कर्त्तव्य मान उन पर नहीं चला जा सकता। ज्येष्ठ बंधु ! तुम्हीं बताओ, क्या थोथे अनुशासन के नाम पर उठते व्यक्तित्व को सत्ता की पाषाण शिला के नीचे दबाकर उसे घुटने दूँ ?

रामचंद्र – यह भ्रम है बंधु ! स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास रोका नहीं जा सकता। वह स्वयं अभिव्यक्त होता है। जो कार्य करने पड़ते हैं; उन्हें निर्लिप्त भाव से प्रेम और विवेक पूर्वक करते जाओ। विलंब न करो। राज्याभिषेक की मंगल बेला न टले। शीघ्रता करो। हम सब एक हैं। उठो– शुभस्य शीघ्रं।

भरत – यह आवश्यक नहीं है बंधु ! कि बड़ों की प्रत्येक आज्ञा का आँख मूँद कर पालन किया जाए। जागा हुआ विवेक सुलाया नहीं जा सकता। मैं जड़ नहीं हूँ भ्रात ! मेरा मन मस्तिष्क सक्रिय है। उसे कैसे भुलावे में डाल दूँ ? शोषणवृत्ति मैं नहीं अपना सकूँगा।

रामचंद्र – (हँसकर स्नेह पूर्वक) ओह ! भाषण देने का भी अच्छा अभ्यास हो गया है तुम्हें। यदि मैं कहूँ कि तुम स्वतन्त्र नहीं, स्वच्छंद हो गये हो भरत! तो अत्युक्ति न होगी।

भरत – यूँ हँसकर विनोद में टाला नहीं जा सकता; हाँ, आप जो भी दोष लगायें मुझे सब स्वीकार हैं। पर राज्य आप ही करेंगे। मुझे क्या इतना पतित स्वार्थी समझ रहे हैं ?

रामचंद्र – अपने अनूठे अपूर्व पवित्र स्नेह की पावन गंगा में कहीं स्वार्थ की गंध भी आ सकती है ? वह तो उछलती कूदती उमंग में बहती ही जा रही है। *(स्नेह पूर्वक हाथ पकड़कर)* भरत ! मेरा अनुरोध न मानोगे बंधु ! तुम्हें मेरे वचनों की रक्षार्थ अयोध्या का सिंहासन सम्हालना ही होगा।

भरत – (दुख से विह्वल हो) बंधु ! ये कैसे अनुरोध का पालन करवा रहे हो। मेरी ओर देखो भ्रात ! क्या मैं इतना कठोर दण्ड सह सकूँगा ?

रामचंद्र – सहना होगा मेरे प्रिय ! सब कार्य हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं हुआ करते। इच्छा के विरुद्ध भी कुछ कार्य हम से नियति करवाती है। विचार करो, क्या रोगी कड़वी औषधि भक्षण करना चाहता है ? क्या अनायास आये हुये संकट हम नहीं झेलते ? बंधु ! हमें वर्तमान को बिना झिझक स्वीकार करना ही उचित है। यह सत्य और तथ्य भी है कि जिस वस्तु से हम जितनी दूर भागते हैं; वह उतनी ही शीघ्रता से हमारे निकट आती है।

भरत – मुझे अत्यधिक कठोरता की कसौटी पर कस रहे हो बंधु !

रामचंद्र – भूल गये भरत। कठिनता और सरलता अपने मन में है, बाहर नहीं।

भरत – क्या सोचा था क्या हो गया । एकाकी रहकर कहाँ आत्मरहस्य की खोज में जीवन समर्पित करना चाहता था और कहाँ यह राज्य की स्वर्ण श्रृंखला में जकड़ गया।........ (कैकेयी से) माँ ! तुमने यह कैसा भीषण दुस्साहस कर डाला। अपने ही बालक पर इतना अन्याय ! माँ तुमने दिठौना लगाते मेरा पूरा मुँह ही काला कर दिया। इस कालिमा को धोने के लिये जल कहाँ पाऊँगा ?

रामचंद्र – शान्त होओ भरत ! यह प्रलाप तुम्हें शोभा नहीं देता। आज तुम्हारी विनम्रता कहाँ भाग गई ? जितना ऊँचा उठना चाहते हो; उतने ही नीचे झुकना पड़ेगा बंधु ! आकाश की ओर प्रेरित होने वाले वृक्ष गहरे पाताल से जीवन रस लेकर ही ऊँचे उठ पाते हैं। माँ कोई भी कैसी क्यों न हो, माँ है और महान है।

कैकेयी – नहीं नहीं ! मुझ पापिष्ठा को इतने ऊँचे न उठाओ राम ! भरत को कहने दो। उसका कथन सर्वथा उचित है। मैं उसकी मुखाकृति की विरक्ति का अर्थ अन्यथा लगा बैठी। मेरी बुद्धि मुझे छल गई। मैं उसके अंतरंग भावों को नहीं परख पाई। उसकी विरक्ति मेरी आँखों में आसक्ति बन गई। उसकी मुखमुद्रा का उचित मूल्यांकन न कर सकी। (सजल नेत्रों से) आह ! मैं अपने ही कोख जाये पुत्र की पवित्रता न समझ यह अनर्थ कर बैठी राम ! मुझे धिक्कारो खूब धिक्कारो। जीजी ! कुछ तो कहो, तुम्हारा मौन.......

कौशल्या – (बीच ही में) कैकेयी ! क्या भरत तुम्हारा ही पुत्र है, मेरा नहीं ? तुम भरत पर अपना एकाधिकार कैसे रख सकती हो ?

कैकेयी – अद्भुत है तुम्हारी आत्मीयता ! मैंने चारों बंधुओं के बीच विद्रोह कर अजस्र प्रेम की धारा को विकृत कर दिया।

रामचंद्र – तुम्हारी बात कैसे मान लें मँझली माँ ! तुम्हीं बताओ वह अजस्र धारा विकृत कहाँ हुई ? आज हम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। प्रेम में ये क्षुद्र विघ्न अस्तित्वहीन होते हैं। वह अजस्र धारा ही कैसी ? जो तनिक सी कंकरी के पड़ने से दिशा बदल दे। यहाँ स्नेह का अगाध सागर लहरा रहा है, उसमें तुम भी डूब जाओगी।

कैकेयी – (हर्षाश्रु उमड़ पड़ते हैं राम को वक्षस्थल से लगा) मेरे प्यारे लाल ! सचमुच तू प्रेम की प्रतिमा है।

रामचंद्र – (हँसकर) और इस प्रेम की प्रतिमा को गढ़ा भी तो तुम्हीं ने है मँझली माँ ! बंधु भरत की समता तुम्हारी कीर्त्ति कौमुदी को सर्वत्र बिखरा देगी।

कैकेयी – तेरी विशालता के समक्ष मैं सर्वथा लघु हूँ। बस अब कह दे कि वन न जाकर राज्य करूँगा। (अश्रु आ जाते हैं, गला रूँध जाता है।)

रामचंद्र – यह कैसी विडम्बना है माँ ! अपनों से ही प्रवंचना करूँ ? यह कर्त्तव्य नहीं, तुम्हारा मोह बोल रहा है। मैं सब कुछ सहन कर सकता हूँ माँ ! पर तुम्हारी आँखों में आँसू नहीं सह सकता। तुम शान्त हो जाओ। उसी मुहूर्त में भरत का अभिषेक होना है। मैं जा रहा हूँ, अभी इसी क्षण !

कौशल्या – अरे निष्ठुर दैव ! इस वियोग की ज्वाला को मैं हृदय में कैसे दबाकर रख सकूँगी राम !

दशरथ – (व्यथित विह्वल हो) राम !

रामचंद्र – आप ऐसे कातर न हों तात ! माँ तुम जानती हो सब भावनाओं का खेल है। अपने-पराये से ऊपर उठ स्वच्छ प्रेम की विशाल परिधि में समस्त विश्व को घेर लें तो दुख कहाँ और अशांति कहाँ ? सब क्षणमात्र में विलीन जो जाते हैं।

दशरथ – राम ! तुम्हारे वचनों में हमें अलौकिकता के दर्शन हो गये। अब तुम स्वतन्त्र हो। जहाँ जाना चाहो, जाओ। हम भी लौकिक बंधनों को तिलांजलि दे स्वतन्त्र हो उन्मुक्त विचरण करेंगे। आत्मानन्द की प्राप्ति के अनुसंधान में लगेंगे।

रामचंद्र – उत्तम विचार है तात् ! सच्चा सुख तो विकल्पों के त्याग में ही है।

कैकेयी – यह कैसा विचार ? क्या हम पति व पुत्र विहीन हो जायेंगी ? मेरे एक अविवेक ने घर का ढाँचा ही बदल दिया। जहाँ आनन्द का साम्राज्य था; वहाँ विषाद के सघन श्याम घन छा गये।

रामचंद्र – माँ ! मैंने निवेदन किया न कि आनन्द के साम्राज्य में विषाद के बादल छाते ही नहीं, आलोक और अंधकार कभी एक साथ नहीं रहे। आनन्द का साम्राज्य बाहर नहीं; अपितु अन्तर में है।

कौशल्या – राम ! तूने वनवान की चौदह वर्ष की अवधि ही क्यों निश्चित की ? इसमें न्यूनता तो हो सकती है ?

रामचंद्र – हो तो सकती है, पर उससे लाभ नहीं होगा। साधना के लिये एक युग अनिवार्य है।

भरत – मेरे प्रिय अग्रज ! तुम वचनों पर दृढ़ हो; परन्तु एक निवेदन मेरा भी स्वीकार करो।

रामचंद्र – अवश्यमेव कहो बंधु ! कहो हम भी उसे सहर्ष मानेंगे।

भरत – वह यह कि राज्य तुम्हारा है, तुम्हारा ही रहेगा। मेरे पास वह केवल धरोहर के रूप में सुरक्षित रहेगा। जो कि तुम्हारे आगमन पर तुम्हें सौंप मैं निर्द्वंद्व हो आत्मसाम्राज्य में विचरूँगा।

रामचंद्र – धन्य है भरत ! देखा माँ, मँझली माँ के प्रतिबिम्ब को। कितना सरल, कितना स्वच्छ निर्मल प्रतिभावान व्यक्तित्व !

कौशल्या – मुझे तुम सब पर गर्व है। भगिनी कैकेयी ! तुमने भरत सा महान पुत्र प्रसव कर अपनी कोख को सार्थक कर लिया।

कैकेयी – जीजी ! मैं लज्जित हूँ अपने कृत्य पर। तुमने सचमुच ही विलक्षण क्षमा धारण कर वसुन्धरा सी महान क्षमता का परिचय दिया है। राम उसी का प्रतिबिम्ब है।

लक्ष्मण – मेरे विचार में तो सबने जो खोया है; उससे कहीं अधिक अमूल्य दुर्लभ को पा भी लिया है।

(इसी समय संवाद पाकर सीता, महारानी सुमित्रा शत्रुघ्न आदि परिजन एकत्रित हो जाते हैं।)

भरत – यही बात है बंधु ! अपूर्व आनन्द हाथ आया है।

रामचंद्र – (माता-पिता के चरण छूते हैं) आशीर्वाद दें तात ! मात ! प्रस्थान की आज्ञा दें।

(सबकी आँखें जलमग्न हो जाती हैं। लक्ष्मण और सीता भी माता-पिता के चरण छूते हैं। राम के चरण स्पर्श को भरत झुकते हैं, राम भरत को गले लगा लेते हैं। तत्पश्चात् राम, लक्ष्मण की ओर मुड़ते हैं।)

लक्ष्मण – प्रिय बंधु ! मैं तो आपके साथ हूँ।

रामचंद्र – कहाँ ? लक्ष्मण मैं वन जा रहा हूँ। तुम यहीं रहो।

लक्ष्मण – क्या आप अकेले ही अकेले आनन्द के साम्राज्य का उपभोग करेंगे ?

सीता – (लक्ष्मण से) ऐसा ही प्रतीत हो रहा है। (राम से) आर्यपुत्र ! चलें, विलंब हो रहा है।

रामचंद्र – तुम कहाँ चलोगी सीते !

सीता – (हँसकर) यह भी बतलाना पड़ेगा कि व्यक्ति से भिन्न क्या परछाई भी एकाकी रह पाई है देव !

लक्ष्मण – भाभी ! वन के कष्टों को कैसे सह सकोगी ?

सीता – (शीघ्रता से) जैसे पुरुष सहा करते हैं। यूँ तो कष्ट आर्यपुत्र को हो सकता है, परन्तु नारी तो पति के चरणों में अपूर्व स्वर्गीय सुख का ही आस्वादन करती है। (लक्ष्मण से) पर तुम्हारा जाना सचमुच ही उचित नहीं है लक्ष्मण ! क्यों व्यर्थ ही भगिनी उर्मिला को विरहिणी बना वैरागी वनवासी बन रहे हो ?

लक्ष्मण – भाभी ! मुझे क्यों बलात् वैरागी बना रही हो ? क्या तन से पृथक् होकर उसका अंग जीवित रह सका है ? मैं तो भ्रातृप्रेम से विभोर हो उसमें पल-पल डूबा रहना चाहता हूँ। क्या आप अपने भाग में से मुझे किंचित् सेवा का अवसर प्रदान न कर सकोगी ?

सीता – भ्रातृप्रेम में बाधा भला मैं क्यों दूँ ? परन्तु भगिनी उर्मिला की ओर विवश दृष्टि जाती ही है। नारी के मन को नारी ही जान पाती है। तुम पुरुष उस व्यथा को क्या जानो।

लक्ष्मण – (हँसकर) हाँ पुरुष तो पुरुष होते ही हैं। आपका उलाहना भी अतिप्रिय लग रहा है। पर क्या करूँ ? मन की तुला पर भ्रातृप्रेम का पलड़ा भारी पड़ जाता है। भाभी ! मैं अग्रज राम से विलग नहीं हो सकता।

राम – लक्ष्मण ! यह कर्त्तव्य नहीं तुम्हारा।

लक्ष्मण – कर्त्तव्य की परिभाषा से मैं अनभिज्ञ हूँ बंधु ! न बुद्धि अभी इतनी परिपक्व हुई है कि जानने के लिये उस पर अनावश्यक बोझ डाला जाये। प्रयोजन तो मुझे आपके चरणों से है। —

सीता – (मुस्कुराते हुये) सच !..............अर्थात् मेरे भागीदार बन

गये। तब चलो आयुष्मन् ! मेरे वत्स ! चलो।

लक्ष्मण – माँ सदृश वत्सला भाभी का भागीदार कैसा ? लक्ष्मण अपनी भाभी के वात्सल्य का अधिकारी है भाभी !

रामचंद्र – क्यों नहीं, मानव मात्र पारस्परिक स्नेह का अधिकारी है। यदि मानव समस्त प्राणी जगत से प्रेम संबंध स्थापित कर ले तो विद्वेष का आविर्भाव ही समाप्त हो जाये तथा आंतरिक नैसर्गिक निश्छल मृदुनेह की सुदृढ़ डोर से अखिल विश्व ऐक्य सूत्र में बँध जाये। तब समता का अपूर्व साम्राज्य प्रसरित

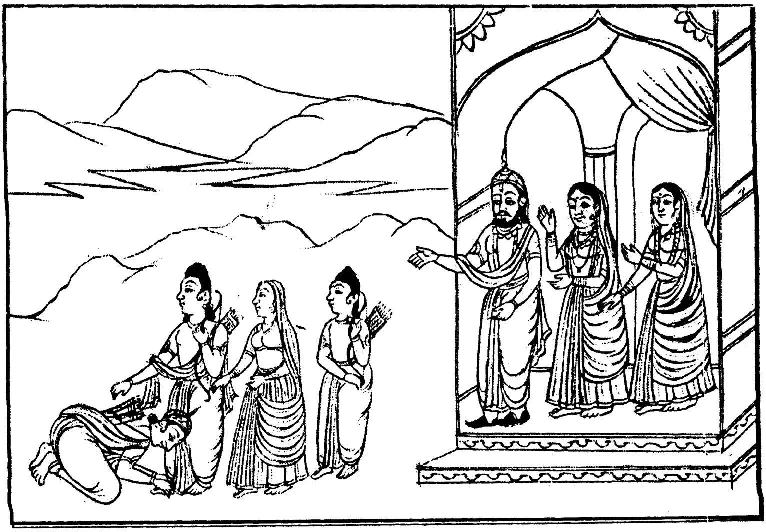

हो मानव को मुक्ति की नई दिशा सुलभ कर सके।

भरत – (विह्ल हो) भैया......................

रामचंद्र – (पीठ पर हाथ फेरकर समझाते हुये) भरत ! आनन्द पूर्वक आगत को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। साधक की यही कसौटी है। अच्छा हम चल दिये। सीते ! चलो......लक्ष्मण ! चलो बंधु !

(परस्पर अभिवादन कर राम, सीता व लक्ष्मण चल पड़ते हैं। सबके नयन सजल हैं।)

(धीरे-धीरे परदा गिरता है)

समदर्शी पण्डित टोडरमल

पात्रानुक्रमणिका

पण्डित टोडरमलजी	जयपुर नगर के जैन विद्वान
गुमानीरामजी	टोडरमलजी के सुपुत्र
श्रीमती रम्भादेवी	टोडरमलजी की माता
दीवान रतनचन्दजी	टोडरमलजी के मित्र
अजबरायजी, श्रीचन्दजी सौगानी, त्रिलोकचन्दजी पाटनी, महारामजी	जयपुर के श्रेष्ठिगण एवं टोडरमलजी के साथी

चंद नागरिक, महावत एवं जनसमूह

प्रथम दृश्य

(समय– प्रातःकाल का प्रथम प्रहर)

स्थान – पण्डित टोडरमलजी का निवास स्थान

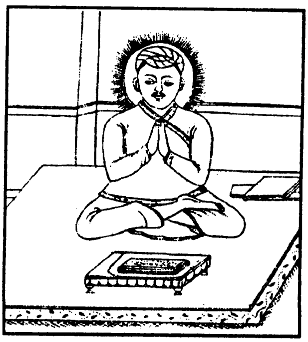

एक कक्ष में पण्डित टोडरमलजी शास्त्र प्रवचन कर रहे हैं। अन्य श्रोतागण शास्त्रश्रवण कर रहे हैं। बीच-बीच में प्रश्नोत्तर भी होते रहते हैं। नगर के प्रमुख श्रेष्ठिगण अजबरायजी, त्रिलोकचन्दजी पाटनी, महारामजी, श्रीचन्दजी सौगानी, पण्डितजी के पुत्र गुमानीरामजी प्रभृति शास्त्रश्रवण कर रहे हैं।

पण्डित टोडरमलजी – (हाथ जोड़कर मंगलाचरण करते हुये।)

शुद्धात्मानमनेकांतं, साधुमुत्तम मंगलम् ।
बंदे संदृष्टि सिध्द्यर्थं, संदृष्ट्यर्थ प्रकाशकम् ।।

बन्धुओ ! आचार्यों ने आत्मा को अपने कर्त्तव्य पालन हेतु बारम्बार

सम्बोधित किया है। प्रत्येक आत्मा का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं को पहिचानने का प्रयत्न करे। अपनी ही श्रद्धा कार्यकारी है। अतः बाह्य पदार्थों से अपनी आश्रय बुद्धि हटाकर आत्मचिंतन, आत्मानुभवन में लगाना चाहिये।

निरन्तर रुचि एवं अभ्यास से हम स्वयं को जानने में समर्थ हो सकेंगे।

अजबराय – पण्डितजी ! मोहकर्म बड़ा प्रबल है। उसी से हम दिग्भ्रमित हो रहे हैं।

रतनचंद – हाँ भाई, इसी के कारण आत्मा अपने को भूलकर, धन-जन-शरीर आदि पर में सुख-दुख मान बैठता है।

पण्डित टोडरमलजी – नहीं बन्धुओ ! ऐसी बात नहीं है। यह जीव भेद-विज्ञान के द्वारा ही आत्मा के भिन्नत्व का अनुभव कर सकता है; किन्तु पराश्रित दृष्टि के कारण ही संसारी प्राणी विकार रूप हो रहे हैं।

त्रिलोकचंद – पण्डितजी ! यह श्रद्धा तो निरन्तर सुनने-जानने से ही जगेगी कि अपनी आत्मा पर से भिन्न है। पर अभी तो सामग्री के संयोग-वियोग में सुख-दुःख होता ही है अर्थात् सामग्री निमित्त रूप है।

श्रीचंद – हाँ, हमें अनुकूल सामग्री प्राप्त हो तो अवश्यमेव बहुत धर्म साधन कर सकते हैं। कषायें भी मन्द हो जाती हैं।

पण्डित टोडरमलजी – बंधु ! यही तो मूल में भूल है। हम बाह्य पदार्थों में ही सुख-दुःख खोजते रहते हैं। सच मानो तो हमने अपने आपको पहिचाना ही नहीं है। हम स्वाधीन लक्ष्य को भूलकर पराश्रय में सुख-दुःख मान रहे हैं। यह कितनी मिथ्या मान्यता है। एक ओर परिपूर्ण स्व और दूसरी ओर सब पर, इसप्रकार भेद विज्ञान ही दो टूक स्पष्ट बताता है। तनिक भी लाग-लपेट नहीं।

त्रिलोकचंद – पण्डितजी ! तब यह बतलायें कि पदार्थों के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद क्यों होता है ?

***पण्डित टोडरमलजी** – आपकी शंका उचित है पाटनीजी।* पदार्थ हर्ष-

विषाद नहीं कराते; अपितु आत्मा स्वयं विकृत हो जाता है; क्योंकि आत्मा की दृष्टि विपरीत है। वह अपने सच्चिदानन्द स्वभाव को नहीं जानकर अपनी सत्ता में विकृत्ति को पालकर बाह्य में उससे दूर रहने का नाटक करे तो वह कैसे दूर हो सकता है ? बीज के सद्भाव में वृक्ष उत्पन्न होगा। हमें 'अहं' व 'ममत्व' को गलाकर विकृत्ति को नष्ट करना होगा। तभी कषायें दूर होंगी। फिर कितने ही विपरीत बाह्य संयोग मिलें, आत्मा का अनिष्ट नहीं हो सकता।

श्रीचंद – यह बात तो ठीक है, जो वस्तु जहाँ होगी ही नहीं; वहाँ उसका विकास कैसे होगा ? अस्तु ! आत्मा की श्रद्धापूर्वक उसे लक्ष्य में लेकर स्वभाव में स्थित होना श्रेयस्कर है। स्वभाव में न सुख-दुःख है, न राग-द्वेष; वह मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। इसलिए निर्विकल्प होने का अभ्यास करना चाहिये।

पण्डित टोडरमलजी – (प्रसन्नतापूर्वक) आप वस्तु स्वरूप को यथावत् समझ गये सौगानीजी।

त्रिलोकचंद – हाँ भई ! विकल्पों के दूर होते ही हमें आत्मरस मिलने लगेगा।

पण्डित टोडरमलजी – थोड़ा और आगे बढ़े त्रिलोकचंदजी। स्वभाव में स्थित होने पर विकल्प स्वयं हट जाएँगे। चैतन्य अपने कार्य को कर सकता है, अचेतन अथवा पर का किंचित् मात्र भी कुछ नहीं कर सकता।

अजबरायजी – वर्तमान में तो ऐसा दिखता है कि हम परस्पर सापेक्षता से सक्रिय होते हैं ?

पण्डित टोडरमलजी – वर्तमान पर्याय मलिन है। ये अनादिकालीन संस्कार भी कुटेव के हैं। इन्हीं मलिन पर्यायों के तीन प्रकार हैं– **संयोग संबंध, एकक्षेत्रावगाह संबंध, निमित्त-नैमित्तिक संबंध**। इन्हीं संबंधों के कारण हमें मलिनता ज्ञात होती है और आत्मा इन दृष्टियों से मलिन भी है, किन्तु हमें शुद्ध निर्मल होना है। अस्तु, इन अपूर्ण एकांशिक अवस्था को गौण करके त्रैकालिक स्वच्छ ज्ञायकरूप आत्मा के पूर्णत्व को प्रमुखतः केन्द्र बिन्दु बनाना होगा। तभी वहाँ पहुँचने का प्रयत्न भी होगा।

श्रीचंद–ठीक-ठीक, अब समझा पण्डितजी! जो कुछ विचारोगे वही तो होगा। आपने पहिले कितना अच्छा बताया कि सूर्य का प्रकाश उदित रात्रि के अंधकार को दूर नहीं करता, प्रत्युत अंधकार स्वयं दूर हो जाता है। स्वभाव-विभाव दोनों में उपयोग एक साथ नहीं रह सकता।

अजबराय – ऐसी स्थिति कब आ सकती है ?

पण्डित टोडरमलजी – जब हम स्वभाव की रुचि करें। चेतन तो राख से ढके अंगारे की तरह है। राख की परत हटाओ ज्योति निखर आयेगी। कच्चे चने का स्वाद अच्छा नहीं लगता। आग में भूनने से उसका यथार्थ स्वाद आने लगता है। बतलाइये यह स्वाद कहाँ से आया ? क्या अग्नि से आया ?

अजबराय – नहीं, उसी चने में से।

टोडरमल – बस इसीप्रकार आत्मा में भी ज्ञानज्योति है, अज्ञान का गुल झड़ाओ ज्ञानज्योति निखर आती है। विषमता हटाकर समता परिणाम लाओ, समदर्शीपन अंगीकार करो।

महाराम – तो क्या आपका तात्पर्य यही है कि हिंसा-अहिंसा, हित-अहित, धर्म-कुधर्म सबको एक समान माने ?

पण्डित टोडरमलजी – नहीं बंधु ! यह तो अविवेकपना हुआ। विवेक पूर्वक वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा जाने और माने वही सच्चा समदर्शी है। समदर्शी व्यक्ति पदार्थों के प्रति ममत्वभाव या इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करता, वह उनमें तादाम्यवृत्ति भी नहीं करता।

महाराम – क्या करें ? अल्पबुद्धि होने से यह बात समझ में नहीं आती।

पण्डित टोडरमलजी – समझ में नहीं आती ! बस यही शल्य बाधक है। सर्वज्ञ देव ने प्रत्येक आत्मा के प्रजातंत्र की उद्घोषणा की है। सब आत्माओं में अनन्त-दर्शन-ज्ञान शक्ति विद्यमान है। फिर भी कोई इसे ज्ञानस्वरूप न समझे यह तो महान आश्चर्यजनक बात है। जो कि गर्दभ के सींग सदृश असम्भव और अनहोनी है।

श्रीचंद – हाँ, हमें आत्मा के स्वभाव का निर्णय करना होगा। तदनुसार ही हम मार्ग पर चल सकेंगे।

पण्डित टोडरमलजी – यह तो सुहागे जैसी स्पष्टता है। यदि अनन्त संसार का अन्त करना है तो हमें पुरुषार्थ पूर्वक जुट जाना है। पूर्ण स्वभाव का लक्ष्य बनाकर तब तक चलें जब तक केन्द्र बिन्दु तक पहुँच न जायें। पूर्णता के लक्ष्य से ही पूर्णता होती है अर्थात् पूर्णता प्राप्त हो सकती है।

गुमानीराम – पिताजी ! मेरी भी शंका का समाधान कर दीजिए। जो वीतरागदेव सर्व विकल्पों से रहित हैं, आकांक्षाओं को जिन्होनें शून्य कर दिया है, जो दुनिया से तो क्या अपने तन से भी ममत्व को गलाकर केवल अपने सच्चिदानन्द आत्मा में आत्मसात् हो चुके हैं, हम उन्हीं को पूज्य मानते हैं न ?

पण्डित टोडरमलजी – हाँ वत्स ! इसमें शंका करने जैसी गूढ़ता तो कुछ भी नहीं है।

गुमानीराम – तब फिर उस वीतराग की आदर्शरूप मूर्ति को सराग बनाकर क्यों पूजा जाता है ?

पण्डित टोडरमलजी – यह अज्ञानता है पुत्र ! व्यक्ति परम्परागत रुढ़ियों का दास होता है। एक व्यक्ति पारसमणि की खोज में पहाड़ के निकट लौह खण्ड लेकर बैठ गया। सामने सागर लहरा रहा था। एक पत्थर उठाता लोहे से स्पर्श करता और सागर में फेंक देता। यह उसकी आदत पड़ गई। अचानक लौह खण्ड को स्वर्णमय देखकर वह प्रसन्नता से उछल पड़ा। दूसरे ही क्षण उदास हो गया, क्योंकि वह अपनी फेकने की आदत के कारण कठिनता से प्राप्त पारसमणि को भी फेक चुका था। यही आदत हमारी भी है।

श्रीचंद – हाँ, यह दुर्लभ मानव जन्म पाकर भी, हम उसे पारस रत्न को समुद्र में फेकने के सदृश, व्यर्थ ही खो देते हैं। वीतराग प्रभु में भी सरागता की स्थापना कर लेते हैं।

पण्डित टोडरमलजी – हमें प्रत्येक क्रिया पर विचार करना परमावश्यक

है। क्रिया के रहस्य को जानकर यथार्थता की कसौटी पर रखना चाहिये। तभी क्रिया कल्याणकारी हो सकती है।

गुमानीराम – तब इन कुप्रथाओं का अन्त होना ही चाहिये।

पण्डित टोडरमलजी – आत्मकल्याण की दृष्टि से होना ही चाहिये।

गुमानीराम – आप क्यों नहीं समझाते ?

पण्डित टोडरमलजी – पुत्र ! मैंने समझाने की बहुत चेष्टा की। पर लाभ न होता देख माध्यस्थ भाव रख उदासीन हो गया।

गुमानीराम – आप इस दिशा में प्रयास कर चुके ! समाज ने आप जैसे विद्वान की बात नहीं मानी ?

पण्डित टोडरमलजी – इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं वत्स ! प्रथम तो मैं विद्वान नहीं हूँ। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञानज्योति किंचित् प्रज्वलित हुई है।

त्रिलोकचंद – पण्डितजी ! आपका क्षयोपशम तीव्र है। आपके परिणामों में भी निर्मलता है। तभी तो आप स्वानुभव करते हुये पंक में पंकज की भाँति निर्लिप्त रहते हैं।

पण्डित टोडरमलजी – बंधुओ ! सबको चिदानन्द घन के अनुभव से सहज आनन्द की वृद्धि ही वांछनीय है। आत्मा तो अनन्तज्ञान वाला है। हम छद्मस्थ हैं। हमारा ज्ञान अंशात्मक है। अनादिकाल से तीर्थंकरों के सदुपदेश यह संसार सुनता आ रहा है; परन्तु सभी तो परमात्मा नहीं बन सके।

गुमानीराम – आप यथार्थ कह रहे हैं पिताश्री ! फिर भी लोग भूल करें तो उन्हें सुधारने का प्रयत्न करना ही चाहिये।

पण्डित टोडरमलजी – तुम भी कर देखो वत्स ! पुनः पुनः उद्योग करने में हानि ही क्या है ? समाज का उपादान प्रबल होगा तो निमित्त मिलकर कार्यकारी होगा ही। अब हम अपने विषय पर आ जाएँ।

श्रीचंद – अभी आपने कहा कि आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है, तो अज्ञानी बनकर संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है ?

अजबराय – कैसी विचित्रता है ? स्वभाव में निर्मलता है, कर्म कुछ करते नहीं। फिर भटकने का कारण क्या है ?

पण्डित टोडरमलजी – बड़ी सुन्दर शंका है बंधु ! दोनों ही नियम यथावत् हैं। आत्मा अपनी भूल से जन्म-मरण कर रहा है। हम सुख चाहते हैं, पर सुख के कारण नहीं अपनाते। बाह्य प्रलोभनों के आकर्षण में सुख खोजा करते हैं। सीधा-साधा उदाहरण है – "इच्छित भोजन मिलने में सुख होता है ?"

महाराम – क्षणिक सुख तो होता ही है।

पण्डित टोडरमलजी – यदि पेट में पीड़ा हो तो क्या वही भोजन सुख प्रदान कर सकेगा ?

महाराम – नहीं।

पण्डित टोडरमलजी – क्षणिक सुख ?

महाराम – नहीं, बिल्कुल नहीं।

पण्डित टोडरमलजी – तब फिर स्पष्ट है कि जड़ पदार्थों में सुख नहीं; अपने भावों में ही सुख-दुःख है। यदि हम परपदार्थों से मुख मोड़ कर अपना लक्ष्य आत्मस्वभाव की ओर कर लें तो चिरन्तन शाश्वत अलौकिक सुख प्राप्त हो। जहाँ न कोई आशा है न आकांक्षा, चिरतृप्ति, चिरशान्ति ही है।

दृश्यांतर

स्थान – रसोई घर (टोडरमलजी का निवास स्थान)

समय – प्रातःकाल द्वितीय प्रहर

(पण्डित टोडरमलजी भोजन कर रहे हैं। उनकी माताजी परोस रही हैं)

पण्डित टोडरमलजी – (भोजन करते-करते) माँ ! आज भोजन में कुछ स्वाद नहीं आ रहा, ज्ञात होता है तुम कुछ भूल गई हो।

माँ – नहीं तो, रसोई प्रतिदिन की तरह ही बनाई है आयुष्मन् ! भूलूँगी कैसे ? मुझे तो ऐसा लग रहा है, जैसे तुम्हें आज ही भोजन में स्वाद आ रहा हो।

पण्डित टोडरमलजी – (पुनः ग्रास मुख में रखते हुये) नहीं माँ ! अवश्य तुम कुछ भूल गई हो। भोजन बिल्कुल रुचिकर नहीं लग रहा। स्मरण करो भला !

माँ – वत्स ! भोजन तुम कर रहे हो। तुम्हीं बता.......

पण्डित टोडरमलजी – (बीच ही में बात काट कर) नमक डालना भूल गई माँ ! सब पदार्थ अलौने लग रहे हैं।

माँ – समझ गई बेटे ! मैं समझ गई। क्या तुम्हारी गोम्मटसार की टीका पूर्ण हो गई ?

पण्डित टोडरमलजी – हाँ माँ ! मैं तो यह बताना ही भूल गया कि आज प्रातःकाल ग्रन्थ लेखन पूर्ण हो गया।

माँ – (रहस्यमय सिर हिलाकर) अनुमान ठीक निकला पुत्र !

पण्डित टोडरमलजी – कैसा अनुमान माँ ! तुम्हारी बातें कुछ विचित्र सी लग रही हैं। भोजन के सन्दर्भ में ग्रंथ की सुधि कैसे आ गई ? जबकि दोनों कार्य एक दूसरे से अत्यन्त विपरीत हैं।

माँ – (मुस्कुराकर) यह शिक्षा तो तुझसे ही मिली है वत्स !

पण्डित टोडरमलजी – माँ ! तुम मुझे अभी नन्हा सा बालक ही समझती हो क्या? मेरी बात विनोद में ही टाल दी।

माँ – (मुस्कुराते हुए) नहीं बेटे ! विनोद नहीं सच कह रही हूँ। मैं छह माह से लगातार अलौने भोजन बना रही हूँ, तूने कभी कुछ नहीं कहा और

आज ही सहसा तुझे नमक की सुधि आ गई। बस मैं समझ गई कि तुम्हारा उपयोग शिथिल हो गया। अनुमान लगाया कि सम्भव है तुम्हारा ग्रन्थलेखन कार्य समाप्त हो गया हो।

पण्डित टोडरमलजी – तुम्हारा अनुमान सत्य निकला माँ ! आज से मेरे उपयोग का दुरुपयोग होने लगा। भोजन के साथ भी समय का नष्ट होना प्रारम्भ हो गया है। मन रूपी कपि को शास्त्ररूपी कल्पवृक्ष पर दौड़ाते रहना ही उचित है। अन्यथा यह अपनी दुष्प्रवृत्ति से नहीं चूकता।

(भोजन समाप्त कर अंतर्कक्ष में आ जाते हैं। और तख्त पर लेटकर कविता गुनगुनाने लगते हैं।)

मैं हूँ जीवद्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेरो,
लग्यो है अनादितें कलंक कर्ममल को।
ताही को निमित्त पाय रागादिक भाव भये,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को॥

(पढ़ते-पढ़ते गहरे विचारों में खो जाते हैं)

(स्वगत) अभी तक श्रुतज्ञान के अवलंबन से उपयोग दृढ़ रहता था। बारम्बार आत्मा की सुधि आती थी। अपने स्वभाव में रुचि होती थी। उपयोग में परिवर्तन हुआ कि मन दौड़ पड़ा संसार की ओर। डोर ढीली की कि गिर पड़े खाई में। इन्हीं कुसंस्कारों के कारण मैं अनजान पथिक युग-युग से निर्लक्ष्य बढ़ता रहा। सचमुच ह्रदय में कभी शान्ति पाने की सच्ची लालसा नहीं जागी। कल्याण करना है तो अहर्निशि आत्मोन्मुख रहना ही होगा। तभी अनन्त संसार को क्षीण कर...........

(घबराये हुये अजबरायजी का प्रवेश)

अजबराय – पण्डितजी ! आपने कुछ सुना ?

पण्डित टोडरमलजी – (उठकर बैठते हुये शान्ति पूर्वक) बैठिये अजबरायजी ! क्या बात है ? इतने घबराये हुये क्यों हैं ?

अजबराय – सारे नगर में सनसनी है कि आपने शिवपिंडी को उखड़वा कर भगवान शिव की अवहेलना की है। अतः नगर नरेश माधवसिंह ने आपको अपराधी घोषित कर मृत्यु दण्ड दिया है।

पण्डित टोडरमलजी – कोई बात नहीं। जन्म के साथ मरण के क्षण भी जुड़े हुये हैं। जहाँ संयोग है; वहाँ वियोग भी है। अनिवार्यतः मृत्यु आयगी ही।

अजबराय – यह मिथ्या आरोप है पण्डितजी ! और राजा का अविवेक पूर्ण दण्ड ! घोर अंधेर !...... आपको स्पष्टीकरण करना होगा।

पण्डित टोडरमलजी – (मुस्कुराकर) स्पष्टीकरण ! अजबरायजी ! जब प्रबल वेग से आंधी चलती है तो नीम और बबूल के वृक्षों के साथ आम के मधुर फलों को देने वाले वृक्ष भी धराशायी हो जाते हैं। यह अविवेक की आँधी है अजबरायजी !

अजबराय – नहीं, ऐसा अन्याय हम नहीं सह सकते। राजा से प्रार्थना करेंगे।

पण्डित टोडरमलजी – राजा से प्रार्थना ! क्या यह दण्ड किसी और ने दिया है ? अरे भाई जब रक्षक ही भक्षक बन जाएं, बाड़ ही खेत को खाने लगे; तब प्रार्थना किससे की जाए ?

अजबराय – उस समय माधवसिंह ने हम सब की बात मान ली थी। अतः फिर एकबार प्रयत्न करने में क्या हानि है ? आज दीवान रतनचंदजी संभवतः इसी कारण शास्त्र सभा में नहीं आ पाये।

पण्डित टोडरमलजी – (शान्ति से) देखिये अजबरायजी ! उस समय का उपद्रव श्याम तिवारी का था तो राजा से विनती की गई थी। उस समय समस्त समाज की क्षति हो रही थी। धर्म स्थानों को नष्ट किया जा रहा था। उस समय सामूहिक उपद्रवों को रोकने के लिये हमारी प्रार्थना उचित थी। परन्तु व्यक्ति विशेष के प्राणों की भिक्षा माँगना सर्वथा अनुचित है। समाज हित के लिए इस कुचक्र में प्राणों को त्यागना ही होगा।

अजबराय – आपके अभाव में समाज की कितनी क्षति होगी, इसका विचार किया आपने ?

पण्डित टोडरमलजी – होनहार अमिट है। किसी भी प्राणी के रहने न रहने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। अतः इन संकल्प-विकल्पों को छोड़कर शान्ति से इस देह को छोड़ने दो। इसी में सार है।

अजबराय – (क्रोध पूर्वक हाथ पटकते हुये) मैं जाता हूँ। कुछ और प्रयत्न कर देखूँ।

पण्डित टोडरमलजी – अरे भाई ! अपनी भावनाओं को कलुषित मत करो। आत्मा अजर अमर है। राग-द्वेष से पार वीतरागता की ओर झाँको। शान्ति का अगाध सिंधु लहरा रहा है। उसी में प्रतिक्षण अवगाहन करो।

अजबराय – आपकी बातें अलौकिक हैं पण्डितजी ! किन्तु वे इस लोक में कार्यकारी नहीं हैं।

पण्डित टोडरमलजी – आत्मा का लोक ही निराला है बंधु ! वहाँ विषमता नहीं, अनन्त समता है।

(अजबराय जाने लगते हैं। टोडरमलजी हाथ पकड़कर) रुको बंधु ! तुम क्या कर सकोगे। जब दीवान रतनचंदजी के प्रयत्न निष्फल हो गये तो....(अजबराय नहीं नहीं कहते हुये तेजी से निकल जाते हैं) **पट्टाक्षेप**

दृश्य द्वितीय

स्थान-दीवान रतनचंदजी की बैठक

समय : प्रातः दस बजे

(अजबराय, त्रिलोकचंदजी पाटनी, श्रीचंदजी सौगानी, महारामजी दीवान रतनचंदजी से टोडरमलजी के विषय में चर्चा हो रही है।)

त्रिलोकचंद – दीवानजी ! शासन के इस नृशंस व्यवहार से हमारा मन क्षुब्ध हो उठा है।

दीवान रतनचंद – बंधुओ ! मैंने महाराज को समझाने का भरसक यत्न किया। पर वे अपना आदेश वापिस लेने को तैयार नहीं हैं।

त्रिलोकचंद – अब क्या किया जाए ? जयपुर में ये कैसा अंधेर हो रहा है ? कुछ ही वर्षों पहिले श्याम तिवारी के कुचक्र से हमारा समाज आतंकित रहा। घोर क्षति भी उठानी पड़ी।

अजबराय – अरे ! उसके तो अत्यन्त घृणित और अधम कृत्य थे। उस मदांध ने जैन समाज की धन सम्पति छीन ली। राज्यबल पाकर तरह-तरह के अत्याचार किये।

श्रीचंद – उस समय की सुधि आते ही हृदय व्यथित हो उठता है। उसने अपने साम्प्रदायिकता के मद में हमारे मन्दिरों को नष्ट करवा दिया। जिनकी छाया में बैठकर हमें आत्मबोध मिलता है। सांसारिक उलझनों में उलझे हुये हमारे मन मानस को चंद क्षणों के लिये शान्ति प्राप्त होती है। जिन वीतराग प्रभु के सन्निकट हम आत्मनिधि से परिचय प्राप्त करते हैं। जहाँ पर हम मन; वाणी और कर्म को सांसारिक कार्यों से हटाकर आत्म अनुभूति कर परमानन्द का पान करते हैं; उन मंगलमय परमपावन स्थानों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था।

दीवान रतनचंद – हमने उस उपद्रव को राजकोप के कारण डेढ़ वर्ष तक सहा। पर अति सर्वत्र वर्जयेत्। श्याम के असीमित अत्याचार और हमारा असीमित धैर्य दोनों ही सीमा पार कर गये थे। तब दृढ़ हो अन्न जल का त्याग कर हमने महाराज से न्याय पूर्ण निर्णय के लिये निवेदन किया था।

त्रिलोकचंद – तब महाराज ने श्याम के राजगुरु होने पर भी सच्चा न्याय कर धर्मप्रियता का परिचय दिया था।

अजबराय – महाराज के उस समय के वचन मुझे याद हैं कि आप लोगों ने मौन रहकर अन्याय अत्याचार को प्रोत्साहन ही दिया है। उन्हें विश्वास था कि जैन कभी असत्य संभाषण नहीं करते।

श्रीचंद – जयपुर राज्य में सदा से ही जैनधर्म को राज्याश्रय प्राप्त है। अत्यधिक संख्या में जैनधर्मानुयायी व मन्दिर इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

दीवान रतनचंद – पर अब वही महाराज माधवसिंह अविवेक से अंधे हो रहे हैं। क्रोधावेश में वे किसी की कुछ सुनना ही नहीं चाहते।

अजबराय – उस समय उन्होंने जो उद्घोषणा की थी। वह अभी भी मेरे पास हैं। यदि उसे दिखाकर उन्हें अपने वचनों की याद दिलाई जावे तो कैसा रहे ?

दीवान रतनचंद – पढ़ो भाई जरा। कदाचित् कुछ मार्ग निकल आये।

अजबराय – (पत्र पढ़ते हैं) सनद करार मिती मगसिर बदी दूज संवत् 1819 अपरंच हद सरकारी में सरावगी वगैरह जैनधर्म वाला सूँ धर्म में चालवा को तकरार छो, सा या को प्राचीन जान ज्यों का त्यों स्थापन करवो फरमायो छै। सो माफिक हुक्म थी हुजूर के लिखा छै। बीसपंथ तेरापंथ परगना में देहरा बनाओ व देव गुरु शास्त्र आगे पूजे छा जी भाँति पूजो। धर्म में कोई तरह की अटकाव न राखे। अर माल-मालियत वगैरह देवरा को जो ले गया होय सा ताकीद कर दिवाय दीज्यो। केसर वगैरह को आगे जहाँ से पावे छा तिठा सूँ दिवावो कीज्यो। मिति सदर.....

महाराम – उस समय यह आदेश अविलम्ब पालन किया गया था।

दीवान रतनचंद – क्या बताऊँ बंधुओ ! जो महाराज कल तक जैनधर्म की सत्यनिष्ठा को राज्य की आधार शिला मानते थे, आज वे ही विपरीत हो गये हैं। हमें टोडरमलजी का होनेवाला अभाव व्यथित कर रहा है।

महाराम – हम लोग सभी बचपन के साथी हैं भाई ! जिस समय टोडरमलजी सात वर्ष के थे; उस समय अपने गुरु बंशीधरजी का नाम पूछने पर ब्रह्मचारी रायमलजी को इतने गहन गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यमय अर्थ बतलाये कि गुरुजी ने उस दिन से अपना गुरुपद बालक टोडरमलजी को सौंप दिया था। अब उन जैसे विद्वान का बिछोह असह्य हो उठेगा।

अजबराय – मालूम होता है यह महान अत्याचार हमें विष के घूँट की तरह चुपचाप पी लेना होगा।

श्रीचंद – अब हमें आत्मा के अनन्त रहस्यों से कौन परिचित करायेगा।

दीवान रतनचंद – (निराश से दुखित हो) एक बार और समझाने का यत्न करता हूँ। वैसे उनके सुबह के विचारों से मुझे जरा भी आशा नहीं है। इस समय वे अत्यन्त क्रोधावेश में हैं। उन्हें भड़काया गया है। राजाओं के कान होते हैं आँखे नहीं।

अजबराय – बाद में पछताएँगे और क्या है।

दीवान रतनचंद – (गहरा उच्छ्वास लेते हुये) बाद में पछताने से अपना क्या प्रयोजन सधेगा ? बाती चुक गई फिर स्निग्धता से क्या लाभ ? मार्ग दर्शक दीप तो बुझ जाएगा। अध्यात्म लोरियों को सुना-सुना कर अंतश्चक्षुओं को जगाने वाला हितचिंतक कहाँ मिलेगा ?

अजबराय – चलिये एक बार राजा साहब से फिर मिला जाय।

दीवान रतनचंद – (हताश हो) चलो। लक्षण शुभ नहीं दिख रहे।

दृश्यांतर

स्थान – टोडरमलजी का अध्ययन कक्ष

समय – दोपहर के चार बजे

(टोडरमलजी अपने अध्ययन कक्ष में अपने ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक के लेखन कार्य में तल्लीन हैं। ....बहु...... राजसैनिक आते हैं और पण्डितजी को पकड़ कर ले जाते हैं।)

दृश्यांतर

स्थान – बध्यभूमि का विशाल प्रांगण

समय – संध्या काल

(चारों ओर जन समूह उमड़ रहा है। बीच के घेरे में टोडरमलजी ध्यानस्थ हैं। उन्हें अभी-अभी हाथी के पैरों तले रौंदा जाएगा। हाथी आता है। उस पर महावत अंकुश लिये बैठा है। जन समूह की आँखों से अविरल अश्रुधार बह रही है। सब ह्रदय थामें उनकी ओर देख रहे हैं एवं उन दुष्क्षणों को कोस रहे हैं जो अभी आने वाले हैं।)

वृद्ध – कैसी सौम्याकृति है पण्डितजी की। भला ऐसे सज्जन देव पुरुष किसी का बुरा भी सोच सकेंगे ?

एक नागरिक – सुनते हैं इन्होंने शिवपिंडी उखड़वा दी है।

वृद्ध – किसी दुष्ट का षड़यंत्र है भैया ! षड़यत्र ! इनके हाथ से किसी का अहित जो जाये यह सर्वथा असंभव है।

दूसरा नागरिक – अन्याय है, घोर अन्याय ! जो व्यक्ति आज तक किसी से कटु कठोर वचन भी नहीं बोला, वह ऐसे निंद्यकार्य नहीं कर सकता।

वृद्ध – राजा अत्याचारी है। जो बिना सोचे समझे क्षीर-नीरवत् न्याय न कर अनर्गल निर्णय दे देता है। धिक्कार है ऐसे राजा को। प्रजावत्सल कहलाकर जो निरपराधों के प्राण ले लेता है।

दूसरा नागरिक – कलियुग आ गया है दादा ! कलियुग ! "साँचे कौं फाँसी लगे, झूठे लड्डू खाँय।"

(पण्डित टोडरमलजी निर्भय खड़े हुए हैं। महावत हाथी को पण्डितजी पर चढ़ने के लिये प्रेरित करता है। वह हाथी पर बार-बार अंकुश छेदता है, परन्तु हाथी टस से मस नहीं होता, इस अन्याय को देख कर हाथी के नेत्र

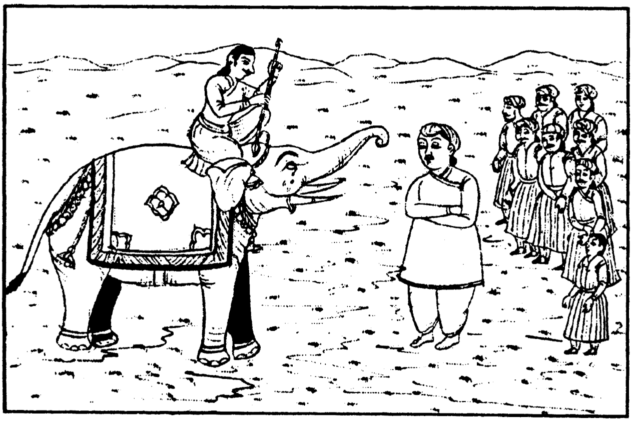

भी सजल हो जाते हैं, असकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। पुनः पुनः अंकुश के छेदने से हाथी के शरीर से रक्त बहने लगता है। वह चिंघाड़ के साथ पैर उठाता है, पर पुनः पुनः सहम कर पीछे हट जाता है। चिंघाड़ से टोडरमलजी का ध्यान भंग हो जाता है। वे हाथी की दयनीय दशा देखकर

करुणाई हो उठते हैं और उसे संबोधित करते हैं।)

पण्डित टोडरमलजी – हे गजेन्द्र ! तुम क्यों संकोच कर प्रहार पर प्रहार सह रहे हो ? यदि राजाज्ञा से मुझे दोषी घोषित किया जा चुका है तो तुम कष्ट सहन कर भी कुछ न कर सकोगे ? आज्ञा पालन कर अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय दो। व्यर्थ ही तन-मन को कष्ट देने से क्या लाभ ? आत्मा को दुखी मत बनाओ। स्मरण रखो कि बार-बार शरीर का अन्त होने पर भी ज्योति स्वरूप चैतन्य ध्रुव आत्मा अविनाशी रहता है। पौद्गलिक परमाणुओं का परिणमन अपने अनुकूल हो अथवा नहीं भी हो । सर्व द्रव्य स्वतंत्र हैं। बाधा देने की मनोभावना विकारी है, व्यर्थ है।

गजेन्द्र ! तुम्हारी वर्तमान अवस्था पराधीन है। स्वयं को पहिचानो। और स्वाधीन बनने का प्रयत्न करो। चैतन्य में रुचि जागृत होने से पराधीनता का स्वयमेव अभाव हो जाएगा। इस समय राजाज्ञा का पालन करना ही उचित है।

(इतना सुनकर हाथी समदर्शी पण्डित टोडरमलजी के वक्षस्थल पर पैर रख देता है। तत्क्षण उनका प्राणांत हो जाता है। ऐसा प्रतिभासित होता है मानों धरा के मानवों को ज्ञानरूपी प्रकाश देने वाले सूर्य का अस्त होते देख गगन का अंशुमाली भी शोक संतप्त हो ढलते हुये पश्चिम की ओर तीव्र वेग से चला जा रहा है।) (पट्टाक्षेप)

कौन जल रहा था ?

गजकुमार मुनि का उपसर्ग सुनकर एक सज्जन बोल उठे –

कैसी बिडम्बना है – गजकुमार मुनि का सिर जल रहा था और उनका ससुर हँस रहा था। देखी संसार की दशा !

तब एक विद्वान ने कहा – मुनिराज तो उस समय में भी समता सुधा का पान कर रहे थे। अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त कर रहे थे। कषाय की भट्टी में तो उनका ससुर जल रहा था। मुनि का शरीर जल रहा था, आत्मा शान्त थी। ससुर का आत्मा जल रहा था, शरीर हँस रहा था। देखा स्वभावदृष्टि का बल !

हमारे प्रकाशन

१. चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी)	५०/-
[५२८ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
२. चौबीस तीर्थंकर महापुराण (गुजराती)	४०/-
[४८३ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
३. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १)	१०/-
४. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २)	१०/-
५. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ३)	१०/-
(उक्त तीनों भागों में छोटी-छोटी कहानियों का अनुपम संग्रह है।)	
६. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ४) महासती अंजना	१०/-
७. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ५) हनुमान चरित्र	१०/-
८. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)	१०/-
(अकलंक-निकलंक चरित्र)	
९. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ७)	१५/-
(अनुबद्धकेवली श्री जम्बूस्वामी)	
१०. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ८)	७/-
(श्रावक की धर्मसाधना)	
११. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ९)	१५/-
(तीर्थंकर भगवान महावीर)	
१२. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १०) कहानी संग्रह	७/-
१३. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ११) कहानी संग्रह	१०/-
१४. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १२) कहानी संग्रह	१०/-
१५. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १३) कहानी संग्रह	१०/-
१६. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १४) कहानी संग्रह	१०/-
१७. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १५) कहानी संग्रह	१०/-
१८. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १६) नाटक संग्रह	१०/-
१९. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १७) नाटक संग्रह	१०/-
२०. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १८) कहानी संग्रह	७/-
२१. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १९) कहानी संग्रह	१०/-
२२. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २०) कहानी संग्रह	१०/-
२३. अनुपम संकलन (लघु जिनवाणी संग्रह)६/-	
२४. पाहुड़-दोहा, भव्यामृत-शतक व आत्मसाधना सूत्र	५/-
२५. विराग सरिता (श्रीमद्जी की सूक्तियों का संकलन)	५/-
२६. लघुतत्त्वस्फोट (गुजराती)	
२७. भक्तामर प्रवचन (गुजराती)	
२८. अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स)	१०/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

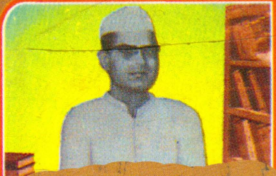

जन्म
वीर संवत् 2451
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
8 दिसम्बर, 1987
पौष वदी 3, सोनगढ़

सत्समागम
वीर संवत् 2471
(पूज्य गुरुदेव श्री से)
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
वीर संवत् 2473
फागण सुदी 1
(उम्र 23 वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा... ।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**- इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान छहढाला प्रवचन,(भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), जैनधर्म की कहानियाँ (भाग 1 से 6) अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।